मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 11 ● वर्ष 2 ● अंक 2 ● अप्रैल 2012 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पूँजीपतियों की सेवा में एक और बजट

जनता को और कष्टभरे दिनों के लिए तैयार हो जाना चाहिए

कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवादी सरकारें पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के सिवा और कुछ नहीं होतीं। मनमोहन सिंह की सरकार ने इस कथन को सही साबित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी है। ख़ासकर हर साल पेश होने वाले बजट में यह भूमिका बख़ूबी निभाने की कोशिश की जाती है। हर बार की तरह इस बार भी बजट में देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बड़ी राहतें दी गयी हैं और ग़रीबी, बेरोज़गारी और महँगाई की चक्की में पिस रही देश की मेहनतकश जनता पर बेहिसाब बोझ लाद दिया गया है। वैसे, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बजट का महत्व भी दिन-ब-दिन कम होता जा रहा है क्योंकि बहुतेरे बड़े फ़ैसले अक्सर बजट के आगे पीछे ले लिए जाते हैं और लागू भी कर दिये जाते हैं।

वित्त मन्त्री प्रणब मुखर्जी ने 1991 से शुरू हुए आर्थिक सुधारों के प्रति अपनी वचनबद्धता को एक बार फिर दोहराया है। इस वचनबद्धता को निभाने के लिए सरकार के सामने दोहरा कार्यभार है। एक है भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की रफ़्तार तेज़ करना। उदारीकरण का अर्थ है भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाज़े अधिक से अधिक विदेशी पूँजी के लिए खोलते जाना और श्रम क़ानूनों को पूँजीपति वर्ग के हित और मज़दूरों के अहित में बदलते जाना। निजीकरण का अर्थ है सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों और अन्य संस्थानों को कौड़ियों के भाव देशी-विदेशी पूँजीपतियों को सौंपना। वैश्वीकरण का अर्थ है भारतीय अर्थव्यवस्था को अधिक से अधिक विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के साथ जोड़ना। सरकार के सामने दूसरा संकट है बजट घाटा कम करना। इन कामों को पूरा करने के लिए सरकार ने जो इन्तज़ाम किये हैं उनसे जहाँ देशी-विदेशी पूँजीपति मालामाल होंगे वहीं इस देश के मज़दूरों, ग़रीब और निम्न-मध्यवर्ग का हाल और भी बदतर हो जायेगा।

इस बार बड़े पूँजीपतियों को करों से सीधे कोई राहत नहीं दी गयी है लेकिन वर्तमान बजट में कुल 50,000 करोड़ रुपये के कारपोरेट आय कर माफ़ कर दिये गये हैं। पिछले छह वर्ष में केन्द्र सरकार ने करीब 4 लाख करोड़ का कारपोरेट आय कर माफ़ किया है। इस वर्ष के बजट में कस्टम और आबकारी शुल्क पर दी गयी रियायतों और कारपोरेट कर्ज़ माफ़ी को जोड़ा जाये तो कुल मिलाकर 5 लाख करोड़ रुपये तक पहुँच जाता है।

इस बार करों से और छूट न मिलने से इस देश के पूँजीपति प्रणब मुखर्जी से नाराज़ भी हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि सरकार ने पूँजीपतियों को कुछ भी नहीं दिया है। सरकार ने वित्तीय

(पेज 14 पर जारी)

सम्पादकीय

पूँजीवादी बजट और अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ नंगी सच्चाइयाँ

पूँजीपतियों के प्रवक्ताओं से लेकर मध्यवर्ग के लोग तक ग़रीबों को दी जाने वाली सब्सिडी (सरकारी सहायता) पर अक्सर शोर मचाते रहते हैं। पूँजीवादी मीडिया में भी अक्सर यह प्रचार किया जाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, बस-रेल भाड़ा, खाद आदि पर सरकार जो सब्सिडी देती है या विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं में सरकार जो पैसे खर्च करती है उसी के कारण सरकारी घाटा होता है। कहा जाता है कि सरकार का काम स्कूल अस्पताल आदि चलाना नहीं है और इन सबको निजी हाथों में सौंप दिया जाना चाहिए। (खाये-पिये-अघाये मध्यवर्ग के प्रिय धार्मिक गुरु श्रीश्री रविशंकर ने तो यहाँ तक फ़रमाया कि सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे आतंकवादी और नक्सलवादी बनते हैं इसलिए देश के सभी स्कूलों का निजीकरण कर देना चाहिए!) मगर ये तमाम लोग पूँजीपतियों को दी जाने वाली भारी सब्सिडी पर चुप्पी मार जाते हैं। वैसे इनसे यह भी पूछा जाना चाहिए कि सरकार अगर देश की जनता के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली-पानी, संचार-यातायात, जैसी बुनियादी कल्याणकारी सुविधाएँ भी नहीं प्रदान कर सकती तो फिर पूँजीवादी जनवाद भला है किसलिए? देश की ग़रीब जनता से अरबों-खरबों रुपये के टैक्स किसलिए वसूले जाते हैं? जनवाद का मतलब क्या बस इतना है कि पाँच साल पर जनता अपने ऊपर शासन

(पेज 15 पर जारी)

सेनाध्यक्ष विवाद : क्रान्तिकारी मज़दूर वर्गीय नज़रिया

पिछले दिनों सेनाध्यक्ष जनरल वी.के. सिंह की चिट्ठी लीक होने के बाद से मीडिया में देशभक्ति की लहर आयी हुई है और मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा तो जैसे देशभक्ति में सर से पाँव तक लिथड़ा हुआ नज़र आ रहा है। सेनाध्यक्ष ने लिखा था कि भारतीय सेना में ज़्यादातर हथियार पुराने पड़ गये हैं और उसके पास गोला-बारूद की कमी हो गयी है। इसके बाद टीवी चैनलों और अखबारों के ज़रिये ऐसा माहौल बनाने की कोशिश शुरू हो गयी कि देश को बड़े पैमाने पर हथियारों की ख़रीद की ज़रूरत है। चिट्ठी किसने और कैसे लीक की, इसके पीछे किसका हाथ है आदि-आदि विवादों के साथ-साथ लगातार इस बात पर जनमत बनाने का काम जारी है कि सेना के बड़े पैमाने पर "आधुनिकीकरण" करने की ज़रूरत है। इस पूरे प्रश्न का एक क्रान्तिकारी मज़दूर वर्गीय नज़रिये से विश्लेषण करने की ज़रूरत है।

चिट्ठी वास्तव में कहाँ से लीक हुई यह मुद्दा है ही नहीं। असली सवाल यह है कि सेना और सरकार के बीच यह अन्तरविरोध पैदा ही कैसे हुआ। पहली बात यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में जब भी संकट बढ़ता है तो पूँजीवाद के सिपहसालारों, पैरोकारों, राजकाज चलाने वालों की इच्छा से स्वतन्त्र कुछ अन्तरविरोध फूट पड़ते हैं और लाख दबाने पर भी सतह पर आ जाते हैं। यहाँ भी कुछ ऐसा ही हुआ है। व्यवस्था के भीतर की इस सच्चाई के सामने आ जाने का भी व्यवस्था के पक्ष में इस्तेमाल करने की कोशिश में पूँजीवाद के पैरोकार जुट गये हैं। इस समय मीडिया राष्ट्रवादी भावनाओं से ओत-प्रोत नज़र आ रहा है और इस बात की काफ़ी चिन्ता प्रकट की जा रही है कि चीन और पाकिस्तान से इस सेना के बूते हम कैसे निपट पायेंगे।

दूसरी बात यह कि जिस तरह बताया जा रहा है कि 97 प्रतिशत हथियार पुराने हो गये हैं, वह एक भारी अतिश्योक्ति है। जैसा कि एक रिटायर्ड अनुभवी जनरल ने टीवी पर कहा कि कोई भी युद्ध सौ प्रतिशत हथियारों से नहीं लड़ा जाता। किसी भी युद्ध में किसी भी देश की सैन्य शक्ति के दो-तीन प्रतिशत से अधिक का इस्तेमाल नहीं होता। हर सेना के पास बहुत बड़ी तादाद में पुराने हथियार मौजूद होते हैं, सभी कुछ हर समय अत्याधुनिक नहीं होता। उन्नततम देशों की सेनाएँ भी बड़े पैमाने पर पुराने नियमित हथियारों का प्रयोग करती हैं। हर समय जितने हथियारों का आधुनिकीकरण किया जाता है, वह कुल हथियारों का बहुत छोटा प्रतिशत ही होता है। इसलिए 97 प्रतिशत हथियार पुराने पड़ जाने का यह आँकड़ा जिस तरह से पेश किया जा रहा है वह दरअसल बड़े पैमाने पर हथियारों की नयी ख़रीद के पक्ष में माहौल बनाने की एक कोशिश है। जिस देश में दुनिया की एक चौथाई भूखी जनता रहती हो, जहाँ सरकारी आँकड़ों के मुताबिक ही एक तिहाई से ज्यादा आबादी भयंकर ग़रीबी की शिकार हो, रोज़ नौ हज़ार बच्चे भूख और कुपोषण से मर जाते हों, आधी से अधिक आबादी को जीवन की बुनियादी सुविधाएँ भी न मिल पाती हों, वहाँ लाखों-करोड़ रुपये हथियारों पर खर्च करने के शासक वर्ग के आपराधिक कृत्य को सही ठहराने की यह भी एक कोशिश है।

भारत पहले ही दुनिया में हथियारों के सबसे बड़े ख़रीदारों में शामिल है। अभी ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन, दक्षिण अफ्रीका का जो गँठजोड़ (ब्रिक्स) उभर रहा है उसमें हथियारों का सबसे बड़ा ख़रीदार भारत ही है। फिर भी चीन की

(पेज 15 पर जारी)

28 फरवरी की हड़ताल: एक और "देशव्यापी" तमाशा 5
गुड़गाँव: सुलगते मज़दूर असन्तोष को दिशा देने की ज़रूरत 5
ग़रीबी की भ्रामक आँकड़े और भुखमरी की भयानक तस्वीर 7
पहले मज़दूर राज, पेरिस कम्यून की चित्र कथा 8-9-10
मज़दूर का अलगाव – कार्ल मार्क्स 13
ग्रामीण व खेतिहर मज़दूरों की प्रमुख माँगें और उनकी अपनी यूनियन की ज़रूरत 11

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मज़दूर बिगुल मज़दूरों में चेतना का स्तर ऊपर उठाने और मज़दूरों में एकता क़ायम करने की सही कोशिशें कर रहा है। मज़दूरों को राजनीतिक शिक्षा देने की कोशिशें कर रहा है। उन्हें अपने हक़-अधिकारों को जानने-समझने में मदद कर रहा है। बिगुल मज़दूरों का हौसला बुलन्द कर रहा है। लेकिन कई महीनों से लगातार न मिलने के कारण निराशा हो रही है। इसलिए सम्पादक जी से मेरा निवेदन है कि इसे महीने में कम से कम एक बार तो ज़रूर छापियेगा क्योंकि यही पत्रिका सर्वहारा वर्ग की अपनी पत्रिका है।

– इमान बहादुर, लुधियाना

बहुत दिन इन्तज़ार कराने के बाद मार्च महीने में बिगुल मिला तो छुट्टी का दिन आते ही सबसे पहले बैठकर इसको पढ़ा। इसमें मुझे सबसे अच्छी जो चीज़ लगी वह है पेरिस कम्यून की सचित्र कथा। कई लोगों के मुँह से इसके बारे में सुनते आये हैं कि 100 साल पहले मज़दूरों ने अपना राज क़ायम किया था लेकिन कभी जानने का मौका नहीं मिला। ये भी आप लोग अच्छा कर रहे हैं कि उसके पहले के मज़दूरों के संघर्षों के बारे में बताते चल रहे हैं। इससे हमको अपने इतिहास को जानने का मौक़ा मिलता है और आगे के लिए विश्वास भी पैदा होता है। दूसरे सभी लेख भी बहुत अच्छे हैं, कविता चार्टिस्ट आन्दोलन का गीत दिल को छूने वाली है। ऐसी और भी चीज़ें देते रहिये।

– राजपाल, नरेला, दिल्ली

(मार्च 2012 अंक में) मारुति पर लेख पढ़ा। बढ़िया लिखा है, बधाई।

– राहुल वर्मन, आई.आई.टी. कानपुर

घरेलू मज़दूरों के निरंकुश शोषण पर एक नज़र

(पेज 6 से आगे)

मज़दूरों की एक महीने की कमाई 1000 से 1500 रुपये होती है, जिनमें से ज़्यादातर को कोई भी छुट्टी नहीं मिलती है। इन बाल मज़दूरों में से 20 प्रतिशत से अधिक 5 से 14 साल उम्र के बच्चे हैं जिनसे मज़दूरी करवाना अपराध है, और जिन्हे संविधान मुफ़्त शिक्षा देने की बात करता है। एक अन्य आँकड़े के अनुसार असंगठित मज़दूरों का यह क्षेत्र खेती और निर्माण के बाद सबसे बड़े व्यवसाय के रूप में सामने आया है और साल 2000 से लेकर 2010 तक इसमें 222 फीसदी की वृद्धि हुई है।

बड़े महानगरों में कई निजी ठेका कम्पनियाँ भी बन चुकी हैं, जो गाँवों और छोटे शहरों से आने वाले बेरोज़गार लोगों की मजबूरी का फ़ायदा उठाती हैं। ये कम्पनियाँ परिवारों को ठेके पर घरेलू मज़दूर मुहैया करवाती हैं और इसके बदले ये काम कराने वालों से तगड़ी फ़ीस वसूलने के साथ-साथ मज़दूरों से भी भारी रक़म ऐंठ लेती हैं। कुछ एजेंसियाँ तो पहले महीने की पूरी तनख़्वाह ही रख लेती हैं। कई एजेंसियाँ छोटे क़स्बों और गाँवों से मज़दूरों को अच्छी तनख़्वाह और आराम के काम का लालच देकर महानगरों में ले आती हैं जहाँ आकर उन्हें पता चलता है कि वे ठगे गये।

हर तरह के घरेलू कामों में लगे मज़दूरों के लिए श्रम क़ानूनों और सामाजिक सुरक्षा का कोई मतलब नहीं है। उनकी हालत ग़ुलाम जैसी होकर रह जाती है। जिन पैसे वालों के घरों में ये काम करते हैं वे ख़ुद तो पैसे बढ़वाने और छुट्टी लेने के लिए सबकुछ करते हैं, लेकिन अगर काम करने वाले ने एक दिन भी छुट्टी कर ली या पैसे बढ़ाने की बात कर दी तो आसमान सिर पर उठा लेते हैं।

मज़दूर संगठनकर्ताओं के लिए यह एक महत्वपूर्ण चुनौती है कि इन असंगठित मज़दूरों को इनके अधिकारों के बारे में शिक्षित कैसे किया जाये, इनके बीच किस प्रकार रचनात्मक तरीके से राजनीतिक प्रचार कार्य करते हुये इन्हें संगठित किया जाये? इसकी शुरुआत उनके क़ानूनी अधिकारों के लिए करोड़ों की संख्या में मौजूद इस असंगठित मेहनतकश आबादी को यूनियनों में संगठित करने से होनी चाहिए। उनकी लड़ाई को फ़ैक्टरियों एवं अन्य असंगठित क्षेत्रों में काम करने वाले मज़दूरों के संघर्ष के साथ एकजुट करना होगा। साथ ही, व्यापक प्रचार कार्य के माध्यम से पूरे पूँजीवादी तन्त्र का भण्डाफोड़ करके उसकी सच्चाई को जनता के सामने लाना होगा, ताकि एक ऐसे समाज का निर्माण किया जा सके जिसमें मालिक और नौकर का भेद ही मिट जाये।

– राजकुमार

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	पाँच रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ-226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ-226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

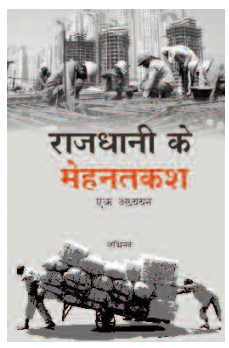

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।
यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं, हालत के बारे में, अपनी सोच के बारे में या 'बिगुल' के बारे में लिखकर हमें भेजिये।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

क़ानून गया तेल लेने, यहाँ तो मालिक की मर्ज़ी ही क़ानून है!

समयपुर, लिबासपुर, यादवनगर के इलाके में काम ढूँढ़ने निकला तो पता लगा कि ज़्यादातर फैक्ट्रियों में बुधवार की छुट्टी रहती है। कहीं-कहीं रविवार की छुट्टी है, तो कुछ फ़ैक्ट्रियों में सोमवार की छुट्टी तो कहीं शनिवार की छुट्टी होती है। ये अलग बात है कि बहुत-सी जगहों पर छुट्टी के दिन भी काम होता ही रहता है। इस इलाके में ज़्यादातर फ़ैक्ट्रियाँ गैस चूल्हा, कुकर, जीन्स, गत्ता बनाने की हैं। इसके अतिरिक्त चूरन, साइकिल की रिम, तार, बैटरी, पंखे, ऑटो पार्ट, नये प्रकार के कपड़े के झोले, प्रेशर पेण्ट, पीवीसी पाइप, गियर क्लच, क्रॉकरी, कपड़े पर लेमिनेशन, तिरपाल, प्लग, मोल्डिंग लाइन, केमिकल, प्रिण्टिंग प्रेस, नमकीन-बिस्कुट आदि की फ़ैक्ट्रियाँ हैं। तमाम ऐसी फ़ैक्ट्रियाँ भी हैं जिनमें बारे में मुझे फिलहाल जानकारी नहीं है।

पहले में जिस फैक्ट्री में गया, उसमें अल्युमिनियम की चादर से बिलाई, कटाई करके सर्कल बनाए जाते हैं। इनसे कुकर, कढ़ाही आदि बनते हैं। तनख्वाह 12 घण्टे के लिए 5500 रुपये महीना, बुधवार की छुट्टी, लेकिन छुट्टी के दिन भी आना पड़ेगा। मैं आगे बढ़ा तो ऐसी फ़ैक्ट्री में पहुँचा जहाँ तिरपाल और पन्नी बनते हैं। यहाँ रोज़ाना 12 घण्टे काम के लिए 6000 रुपये महीना दिया जाता है, जिसमें दिनभर खड़े होकर पन्नी की तह लगानी पड़ती है। चारों तरफ मशीनें आग उगलती रहती हैं जिससे पूरी फ़ैक्ट्री में भयंकर गर्मी रहती है। यहाँ प्लास्टिक के दाने गलाकर पन्नी और तिरपाल बनते हैं। मैंने मालिक से पूछा, अभी इतनी गर्मी है तो गर्मियों के मौसम में क्या हाल होगा! इस बात पर मालिक का मिज़ाज भी गर्मा गया, बोले, "तेरे लिए एसी लगवा दूँ क्या? जीन्स चढ़ाकर लाटसाहब बन रहा है, कहता है गर्मी है, हुँह। रुपए क्या खैरात में मिलते हैं? अरे यहाँ लंच का समय भी नहीं मिलेगा, क्योंकि यहाँ मशीन एक सेकण्ड के लिए भी बन्द नहीं होती। काम करना है, तो कर वरना रास्ता नाप!" वैसे लंच के समय में मालिक-सुपरवाइज़र ख़ुद आधा घण्टे के लिए काम पर लग जाते हैं, और दो मज़दूरों को खाने का समय मिल जाता है, इसलिए यहाँ तो लंच के लिए भी मारामारी है। ऐसे में ये तो किसी को पेशाब के लिए भी जाने नहीं देंगे। ख़ैर, मैंने वहाँ काम करने से मना कर दिया।

आगे बढ़ा तो एक बैटरी बनाने की फ़ैक्ट्री में घुस गया। एक मज़दूर ने इशारा करके बताया कि मालिक से पहले मिल लो। मैं मालिक के पास गया, कहा कि काम चाहिए। मालिक ने यह सुनते ही कहा, 12 घण्टे काम करना होगा, पगार मिलेगी 6000 रुपए, बुधवार को छुट्टी होगी, मंगल या वीरवार को छुट्टी की तो बुधवार के भी पैसे कट जायेंगे। महीने या 15 दिन काम करके छोड़ देगा, तो एक भी पैसा नहीं मिलेगा। करना हो तो कल से आ जाना।

वहाँ से निकलकर आगे बढ़ा, तो कपड़े की फ़ैक्ट्री थी, जहाँ पीवीसी दाना गर्म करके कपड़े पर लेमिनेटशन किया जाता है। यहाँ भी वही नियम चलता है। लेकिन एक नियम और है। मालिक ने बताना शुरू किया, रविवार की छुट्टी, 12 घण्टे के 5300 रुपये महीना और काम हर रोज़ सुबह 6 बजे से रात 9 बजे तक तो करना ही है। इसके अलावा दूसरे-तीसरे दिन रात 9 बजे से 12 बजे तक रोक लेंगे तो दो बार के खाने का पैसा मिलेगा, जो तुम्हारी ऊपरी आमदनी होगी। मैंने पूछा कि क्या 8 घण्टे का काम नहीं है, तो बिगड़ गया और बोला 8 घण्टे वाले को हम नहीं रखते। कम से कम 16 घण्टे तो काम करना ही पड़ेगा। इसके ऊपर तुम्हारी मर्ज़ी, जितना काम करोगे, उतना कमाओगे, उतनी तुम्हारी इज़्ज़त होगी, शोहरत होगी। मैंने बीच में टोकते हुए बोल दिया, मैं बैल नहीं हूँ तो बुरी तरह गुस्सा हो गया और मुझे डाँट-डपटकर गेट से बाहर कर दिया।

ऐसे उदाहरण तो ढेरों हैं, लेकिन मेरा मकसद उदाहरण गिनाना नहीं बल्कि यह है कि लोगों को पता चले कि चमचमाती इमारतों, महँगी लम्बी गाड़ियों, चौड़ी सड़कों, आलीशान होटलों, कोठियों वाले देश में हम जैसे मज़दूरों की क्या औक़ात है। और यह भी, कि सरकार कितने ही क़ानून बना ले लेकिन मालिकों के लिए उन क़ानूनों का कोई मतलब नहीं। क़ानून का पालन भी हम जैसे मज़दूरों और ग़रीबों को ही करना पड़ता है!

– आनन्द, बादली, दिल्ली

मज़दूरों की लूट के लिए मालिकों के कैसे-कैसे हथकण्डे

मालिक लोग मज़दूर की मेहनत को लूटने के लिए कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाते हैं इसकी मिसाल आपको देता हूँ। कुछ समय पहले मैं पानीपत में एक हैण्डलूम कारख़ाने में काम करता था। 2006 में वहाँ मुझे 8 घण्टे काम के 1700 रुपये मिलते थे जो उस समय हरियाणा की न्यूनतम मज़दूरी के आधे से भी कम था। इसके बाद 4-5 घण्टे ओवरटाइम करना पड़ता था जिसके लिए 5 रुपये घण्टे के रेट से मिलता था। बड़ी मुश्किल से गुज़ारा होता था क्योंकि 600 रुपये कमरे का किराया था जिसमें हम दो मज़दूर रहते थे।

यहीं पर मैंने देखा कि पीस रेट पर काम करने वाले कारीगरों को लूटने के लिए मालिक कैसी-कैसी तिकड़म करते थे। कारीगर सुबह जल्दी आकर लूम पर जुट जाते थे कि ज़्यादा पीस बना लेंगे तो ज़्यादा कमा लेंगे। लेकिन मालिक के चमचे फ़ोरमैन और मैनेजर आख़िर किसलिये थे? कारीगर अगर 9 या 10 चादर तैयार कर लेता था तो उसमें से 3-4 चादर मामूली फाल्ट निकाकर रिजेक्ट कर देते थे। उसका एक भी पैसा मज़दूर को नहीं मिलता था–हालाँकि मालिक तो उसे बेच ही लेता था। लम्बाई में आधा-पौना इंच की कमी-बेशी हो जाये तो माल रिजेक्ट। अगर बहुत हिसाब से कारीगर लम्बाई का ध्यान रखे, तो वज़न में 10-20 ग्राम कमी-बेशी निकालकर रिजेक्ट कर देते। यही हाल कढ़ाई के कारीगरों का होता था। कुछ न कुछ नुक्स निकालकर रोज़ पैसे काट लेते थे। 'हरीसन्स एंड हरलाज' नाम की इस कम्पनी में 3000 मज़दूर थे। जोड़ लीजिये कि अगर रोज़ 30-35 रुपये की औसत कटौती हो तो महीने में मालिक की कितनी बचत होती होगी। यहीं पर शीना एक्सपोर्ट कम्पनी में तो कुल मिलाकर 20 हज़ार से ऊपर आदमी काम करते हैं। हरीसन्स और शीना दोनों कम्पनियों का सारा माल एक्सपोर्ट के लिए जाता है। मैंने सुना है कि कोई-कोई कढ़ाईदार चादर विदेश में 3-3 लाख रुपये में बिकती है। लेकिन एक चादर पर काम करने वाले सारे कारीगरों को मिलाकर 250 रुपये भी नहीं मिलते।

यहाँ शायद ही कोई मज़दूर हो जो कर्ज़ में न डूबा हो। शिकायत चाहे जितना हो काम छोड़ नहीं सकते। बाहर इतने आदमी काम की तलाश में भटक रहे हैं, मालिक को तो तुरन्त दूसरा मिल जायेगा, मगर मज़दूर को काम नहीं मिला तो उधार चढ़ता जाता है। पैसे की लूट तो है ही, ऊपर से बात-बात पर गाली-गलौच और मार-पीट भी सहनी पड़ती है। यहाँ के मालिक इतने ज़ालिम हैं कि छुट्टी के दिन कमरे की लाइट काट देते हैं ताकि मजबूरी में मज़दूर को फैक्ट्री में ही आना पड़े। पूरे पानीपत में लाखों मज़दूर हैं। लेकिन एकता न होने के चलते कुछ नहीं कर सकते। एकता के बिना कुछ नहीं हो सकता। ये बात सब मजदूरों को समझना ही पड़ेगा।

– महेश, बादली, दिल्ली

पहले अद्धा दो फिर होगा इलाज

मैं एक मज़दूर हूँ और लुधियाना में करीब 10-11 साल से काम कर रहा हूँ। मेरा छोटा भाई जगन्नाथ सात-आठ साल से यहाँ काम कर रहा है। हपछले नौ महीने से वह न्यू शन फैक्टरी, फोकल प्वाइण्ट, फेस-8 में काम कर रहा था। इसी वर्ष 21 जनवरी को अचानक काम के दौरान उसके बायें हाथ की एक उँगली टूट गयी। फैक्टरी वाले उसे एक नज़दीकी प्राईवेट अस्पताल में भर्ती करवा दिये। मालिक की इस अस्पताल से साँठ-गाँठ थी। दो दिन तक उसी अस्पताल में इलाज करवाकर उसे छुट्टी दे दी गयी। चार दिन घर पर दवाई हुई। 27 जनवरी को मेरे छोटे भाई का ई.एस.आई. कार्ड बनाया गया लेकिन उसे 30 जनवरी को ही दिया गया। मेरे भाई को कहा गया कि अब वो अपना इलाज ई.एस.आई. से करवाये। ई.एस.आई. डिस्पेंसरी में पर्ची बनवाने के लिए लम्बी लाइन लगी थी। पर्ची बनाने वाला बार-बार उठकर इधर-उधर घूम रहा था। मैंने कहा सर जी जल्दी पर्ची बना दीजिये मेरे छोटे भाई की उँगली बहुत दर्द कर रही है। लेकिन उस समय 1 बज गया था। पर्ची बनाने वाले ने कहा कि अब तो वो खाना खाने जायेगा। वो करीब ढाई बजे आया और बोला अब नहीं बनेगा क्योंकि उनके स्टाफ के किसी व्यक्ति का रिटायरमेंट पार्टी है। तुम लोग अगले दिन आना। मैंने कहा कि सर जी डॉक्टर साहब से मिलना बहुत ज़रूरी है नहीं तो उँगली ख़राब हो जायेगी। करीब 10 मिनट तक हमको रोके रखने के बाद पर्ची बनाने वाले ने कहा कि अगर आज ही पर्ची बनवाना है तो एक अंग्रेजी अधिया लाकर देना होगा। वो पहले ही दारू पी रखा था। मैंने कहा कि आप तो पहले ही पिये हुए हो कल पी लीजियेगा। मेरी बात पर वो गुस्से में बोला कि आज तेरी पर्ची नहीं मिलेगी, कल सुबह आकर ले लेना। हम दोनों अगली सुबह 9 बजे वहाँ पहुँचे। करीब 11 बजे कोई दूसरा व्यक्ति पर्ची बनाने के लिए आया। चार बजे डॉक्टर आया। उसने एक हफ्ते की दवा लिख दी। ई.एस.आई. स्टोर में दवा लेने गये तो वहाँ हमें पूरी दवा नहीं दी गयी। बाकी दवा हमें बाहर मेडिकल स्टोर से लेने के लिए कहा गया। अब हमें दवाइयाँ बाहर से लेनी पड़ रही हैं और इलाज भी बाहर से कराना पड़ रहा है। हमारा दो हफ़्ते में करीब दो हज़ार रुपये खर्चा हो चुका है। जो छुट्टी का पैसा मिलना था उसके लिए आज-कल करके दौड़ाया जा रहा है। लगभग एक महीना होने वाला है लेकिन पैसा नहीं मिल रहा। पूछो तो कहते हैं कि जल्दी है तो पहले दो सौ रुपया महीना देना पड़ेगा। हमने कहा कि हमारे पास तो दवा करवाने के लिए पैसा नहीं है आपको कहाँ से दें। इस बात को सुनकर हमें कहा गया कि यहाँ नेतागिरी नहीं चलेगी। फिर कहा गया कि इलाज यहाँ पर नहीं अब पुलिस चौकी में होगा।

हम अकेले होने के नाते मजबूर हैं। मैं सोच रहा हूँ क्या करूँ। पता नहीं मेरे छोटे भाई की उँगली बचेगी भी या खराब हो जायेगी।

– अजय, लुधियाना

लेबर चौक: मज़दूरों की खुली मण्डी

आमतौर पर यहाँ कोई चौक नहीं होता। फिर भी इसे 'लेबर चौक' कहते हैं। यहाँ विभिन्न किस्म के मज़दूर इकट्ठा होते हैं। राजमिस्त्री, पुताई करने वाले, सेटरिंग करनेवाले, बेलदार, पल्लेदार, प्लम्बर आदि-आदि। यहाँ नाबालिग से बुज़ुर्ग, बिल्कुल नये तथा अनुभवी एवं पारखी – हर किस्म के मज़दूर उपलब्ध रहते हैं। अभी-अभी गाँव से अपना झोला लेकर उतरा हुआ मज़दूर आपको यहाँ मिलेगा। कई-कई वर्षों से यहाँ काम करने वाले तथा घाट-घाट का पानी पी चुके मज़दूर भी यहाँ मिल जायेंगे। आँखों में हसीन सपने लिये ज़िन्दगी को बेहतर बनाने के सपने सँजोते मज़दूर आपको यहाँ मिल जायेंगे। और कई-कई बरस काम करने के बाद टूटे हुए सपनों को लिये हुए निराशा से भरे आदमी भी मिलेंगे।

अगर आपको गाँवों में लगने वाले जानवरों के मेले में कभी जाने का मौका मिला हो तो आप यहाँ के दृश्य का अनुमान लगा सकते हैं। जैसे मेले में बैल की पूँछ उठाकर, कन्धे टटोलकर उसके मेहनती होने की जाँच-पड़ताल की जाती है वैसे ही 'लेबर चौक' पर मालिक-ठेकेदार लोग आँखों से परखते हैं। कई बेशर्म ठेकेदार तो हाथ से भी जाँचने की कोशिश करते हैं। हमने स्कूल की किताब में पढ़ा था कि बहुत साल पहले गुलामों को चौराहे पर ख़रीदा-बेचा जाता था। दुनिया बदल गयी, इन्सान कहाँ से कहाँ पहुँच गया, लेकिन हम मज़दूर फिर से उसी गुलामी की हालत में धकेल दिये गये हैं।

लेबर चौक पर आने वाले मालिकों-ठेकेदारों को सबसे ज़्यादा चिढ़ इस बात से होती है कि ये लेबर 'क्या काम है' क्यों पूछते हैं। वे चिढ़कर जवाब देते हैं लेबर का क्या काम होता है? – जो बताया जायेगा करना होगा। ज़्यादातर चाहते हैं कि मज़दूर बिना चूँ-चपड़ किये उनके साथ चला जाये। जैसा-जैसा वे बतायें वैसा-वैसा करता रहे जब तक वे काम करवाना चाहें चुपचाप करता रहे तथा जितना पैसा वे दे दें ख़ुशी-ख़ुशी लेकर मज़दूर चला जाये।

मगर ये मज़दूर सवालों की झड़ी लगा देते हैं – क्या काम है जी? चुनाई नीचे होनी है या ऊपर? गारे से चिनाई होगी या सीमेण्ट से? रेत और ईंट कितनी मंजिल पर चढ़ाना है? मिट्टी कितनी दूर डालनी है? शाम को छुट्टी कितने बजे करोगे? एक घण्टे का लंच दोगे या नहीं? चाय कितनी बार देते हैं? ज़्यादा दूर जाना हो तो आने-जाने का किराया दोगे या नहीं? आख़िर मज़दूर जाँच-पड़ताल क्यों न करें? अभी कुछ ही दिन पहले की बात है, गुड़गाँव में अमित कुमार नाम का कोई डाक्टर था जो ग़रीबों का गुर्दा निकालकर बेचता था। उसके लोग लेबर चौक से मज़दूरों को बहला-फुसला कर ले जाते थे और उनका गुर्दा निकालकर बेच देते थे। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में 'खुनचुसवा गिरोह' का भण्डाफोड़ हुआ था – जो मज़दूरों को बन्धक बनाकर उनका ख़ून निकाल-निकालकर अस्पतालों में सप्लाई करते थे। और हरियाणा तथा पंजाब के बड़े-बड़े किसान और ईंट भट्टों के मालिक तो अक्सर लेबर चौकों से मज़दूरों को अपनी गाड़ियों में बिठाकर ले जाते हैं और जब तक काम ख़त्म न हो जाये तब तक 'बँधुआ मज़दूरी' करवाते हैं।

'लेबर चौक' के आस-पास के दुकान वालों से चौक पर खड़े होने वाले मज़दूरों का छत्तीस का आँकड़ा बना रहता है। हालाँकि वह जगह सरकारी होती है या सड़क का किनारा होता है पर दुकान वाले उसे अपने-अपने बाप की सम्पत्ति समझते हैं। जैसे-जैसे उनकी दुकानें खुलती जाती हैं वैसे-वैसे चौक के मजदूरों के बैठने या खड़े होने की जगह कम होती जाती है। दुकान वाले मज़दूरों को कुत्तों की तरह दुत्कारते हैं, गाली-गलौज करते हैं फब्तियाँ कसते हैं, पानी फेंक देते हैं तथा कई दबंग दुकानदार तो अक्सर मज़दूरों के साथ मार-पीट करने पर उतारू हो जाते है। मजदूरों के पास और कोई विकल्प न होने की वजह से सब कुछ झेलकर भी वहीं खड़े होने की मजबूरी होती है।

– रूपेश, दिल्ली

मज़दूर स्त्रियों का फ़ैक्ट्री जाना मज़दूर वर्ग के लिए अच्छी बात है!

अब यह कहना गलत होगा कि औरत पैर की जूती है और वह तभी अच्छी लगती है, जब तक परदे के पीछे है, जब तक चूल्हा, बर्तन, बच्चे सँभालती है और आँख मूँदकर मर्द की सेवा करती है। क्योंकि अब मज़दूर औरतें भी समाज की इस कूपमण्डूकता और जकड़न को तोड़ रही हैं। वे अपने पैरों पर खड़ी हो रही हैं। नीचे कुछ तथ्य दिये हैं, इन पर विचार कीजिये:

1. नीलम उपाध्याय (दरभंगा, बिहार) की उम्र क़रीब 32 वर्ष है, पति नहीं हैं। सास के साथ रोज़ खटपट होती थी, सो अकेले कमरा लेकर रह रही हैं। दो छोटे लड़के हैं, जिन्हें सास-ससुर ने नीलम के साथ नहीं आने दिया। अकेले रहते हुए भी काम करती हैं, और अपनी आजीविका चला रही हैं।

2. रेखा की माँ (बिहार) नौकरी करती हैं। पति भी काम करते हैं। दो लड़कियाँ हैं, और अब फिर माँ बनने वाली हैं। मगर काम पर जाती हैं।

3. रोशन जहाँ/हनीफ़ जहाँ, उन्नाव, उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं। उम्र दोनों की लगभग 30 वर्ष है और दोनों फ़ैक्ट्री में काम करते हैं, क्योंकि गाँव में उनका कुनबा बड़ा है। हनीफ़ का कहना है। खेतों में 24 घण्टे काम करते थे। एक धेला हाथ नहीं लगता था। बीबी के साथ दो पल बिताना भी नसीब नहीं होता था। इसलिए शहर आ गये। बाप आया था लेने मगर अब हम कभी नहीं जायेंगे।

4. रामप्यारी उर्फ कीनू (बांगरमऊ, उत्तर प्रदेश की रहने वाली) की उम्र करीब 30 वर्ष है, दो बच्चे हैं। उनको अच्छे स्कूल में पढ़ा रही है। ट्यूशन लगा रखी है। पति-पत्नी दोनों फ़ैक्ट्री में काम करते हैं।

5. नन्हें की पत्नी, आज़मगढ़, उत्तर प्रदेश की रहने वाली है। दोनों की उम्र लगभग 28 वर्ष है और इनकी एक लड़की है। आँखों में बेहतर भविष्य का सपना लिये, दोनों पति-पत्नी कारखाने में काम करते हैं।

6. सावित्री देवी कन्नौज, उत्तर प्रदेश की रहने वाली हैं। पति-पत्नी की उम्र क्रमश: 70 वर्ष और 62 वर्ष है। दो लड़के हैं। घर बनवाया व बड़े लड़के की शादी की जिसमें करीब 2 लाख रुपये कर्ज़ हो गये। घर व कुछ बीघा खेत बचाने के लिए सावित्री जी, पति महेन्द्र सिंह, बड़ा लड़का, नवविवाहित बहू, ये सभी फ़ैक्ट्री में काम करते हैं।

7. पूनम की मम्मी (दरभंगा, बिहार) गाँव में दो वक़्त की रोटी का इन्तज़ाम बड़ी मुश्किल से कर पा रही थीं। सो एक साल पहले पति-पत्नी, तीन लड़कियाँ और एक लड़का, पूरा परिवार दिल्ली आ गया। पति-पत्नी ने तो तभी फ़ैक्ट्री में काम पकड़ लिया, मगर उससे भी घर की दरिद्रता दूर न हुई तो इधर छह महीने से 15 वर्षीय पूनम ने भी फ़ैक्ट्री में काम करना शुरू कर दिया है।

8. राजन महतो और उनकी पत्नी (बिहार), दोनों की उम्र लगभग 32-35 वर्ष है। महतो जी पहले स्टील प्लाण्ट में काम करते थे। काम छूटने के बाद रिक्शा चलाना शुरू कर दिया। इनके दो लड़कियाँ व एक लड़का है। इनकी कमाई से घर का गुज़ारा मुश्किल से चल रहा है। इसलिए अब पत्नी ने भी फ़ैक्ट्री में काम करना शुरू कर दिया है।

9. हरिकिशन (बिहार) की उम्र करीब 22 साल है। ये तीन भाई हैं। हरिकिशन कम्पनी के लिए वेल्डिंग का काम करते हैं। इनके पिता पानी का कैन सप्लाई करते हैं। इनकी मम्मी भी फ़ैक्ट्री में काम करती हैं।

10. हीरालाल और उनकी पत्नी (आजमगढ़, उत्तर प्रदेश), दोनों की उम्र 35 से 40 के बीच है। इनके तीन लड़के और दो लड़कियाँ हैं। पहले हीरालाल फ़ैक्ट्री में काम करते थे, मगर अकेले घर का आर्थिक संकट न झेल सके, इसलिए अब पत्नी भी फ़ैक्ट्री जाने लगी हैं।

हमारे आसपास ऐसे तमाम उदाहरण हैं जिनमें स्त्रियों ने मजबूरी में फ़ैक्ट्री जाना शुरू किया या अपनी आज़ादी के लिए गर्व से यह रास्ता चुना। मज़दूर मुक्ति के लिए ज़रूरी है कि स्त्रियाँ आत्मनिर्भर हों, और पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलें। यदि हम आधी आबादी को क़ैद करके रखेंगे या गुलाम बनाकर रखेंगे तो हम भी पूँजीवाद की बेड़ियों से आज़ाद नहीं हो पायेंगे। इसलिए मज़दूर स्त्रियों का फ़ैक्ट्री जाना मज़दूर वर्ग के लिए अच्छी बात है।

– आनन्द

ये तो निर्माण मज़दूरों के भीतर सुलगते ग़ुस्से की एक बानगी भर है

गुड़गाँव संवाददाता

पिछली 23 मार्च को सेक्टर 58, गुड़गाँव में आरियो ग्रांड आर्च प्रोजेक्ट की एक निर्माणाधीन इमारत में काम के दौरान सातवीं मंज़िल से गिरकर एक मज़दूर बाबुल हसन की मौत हो गयी। बागपत, उत्तर प्रदेश का रहने रहने वाला यह 25 वर्षीय मज़दूर एक कम्पनी की तरफ़ से ठेके पर काम कर रहा था। इमारत को बनाने का ठेका एल एंड टी और एलूफ़िट नामकी कम्पनियों के पास है। इस विशाल इमारत के निर्माण में 3,500 मज़दूर ठेके पर लगे हैं। मज़दूरों के अनुसार ख़तरनाक काम के लिए मज़दूरों की सुरक्षा का कोई इन्तजाम इन ठेका कम्पनियों द्वारा नहीं किया जाता है। इस हादसे के पीछे भी यही कारण था। ऐसे हादसों का एक बड़ा कारण यह भी होता है कि मज़दूरों से लगातार 12 से 14 घण्टों तक हफ़्ते के सातों दिन जानवरों की तरह काम कराया जाता है। कमरतोड़ मेहनत और पर्याप्त आराम न मिलने से कभी-कभी मज़दूरों से असावधानी हो जाती है और सुरक्षा इन्तज़ाम न होने का नतीजा यह होता है कि मज़दूर गम्भीर दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते हैं।

मजदूरों का कहना था कि अगर बाबुल को समय पर अस्पताल पहुँचा दिया जाता तो उसकी जान बच सकती थी। इसके बजाय कम्पनी मैनेजमेण्ट ने गिरने के बाद बाबुल को चुपचाप पुलिस की गाड़ी में बाहर ले जाने की कोशिश की ताकि इस दुर्घटना को दूसरे मजदूरों से छुपाया जा सके। जैसे ही यह ख़बर वहाँ काम करने वाले मजदूरों तक पहुँची उन्होंने पुलिस की गाड़ी को रोकने की कोशिश की जिससे मज़दूरों और कम्पनी के सिक्योरिटी गार्डों के बीच झड़प हो गयी। अपने साथी की मौत और कम्पनी एवं पुलिस द्वारा दुर्घटना को छुपाने के प्रयास ने मज़दूरों के गुस्से को भड़का दिया। इसके बाद पुलिस ने ज़ोर-ज़बरदस्ती की तो फिर इसके जवाब में कुछ मजदूरों ने अपना गुस्सा पुलिस की जीप और कम्पनी कार्यालय में आग लगाकर निकाला। इसके बाद पुलिस ने बेरहमी से मजदूरों पर लाठियाँ चलायीं जिसमें अनेक मज़दूर घायल हो गये।

इस घटना के बाद ठेका कम्पनी के विरुद्ध कार्रवाई की माँग कर रहे मज़दूरों को हटाने के लिए प्रशासन ने वहाँ पर लगभग 50 पुलिसकर्मियों की तैनाती कर दी। पुलिस के ही एक अधिकारी के अनुसार इमारत परिसर के पास ही बनी झुग्गी में रहने वाले अनेक बेगुनाह मज़दूरों को पुलिस ने उनके कमरों से निकाल-निकाल कर मारा-पीटा और 23 मज़दूरों को तुरन्त गिरफ़्तार कर लिया गया, जबकि कम्पनी के कहने पर 200 अन्य मज़दूरों के विरुद्ध एफ़.आई.आर दर्ज की गयी। लेकिन मज़दूर की मौत के लिए जिम्मेदार कम्पनी मैनेजमेण्ट के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की गयी। कम्पनी का कहना है कि दुर्घटना मज़दूर द्वारा सुरक्षा बेल्ट न लगाने के कारण हुई थी। अगले दिन तक पुलिस ने पास की सारी झुग्गी को जबरन खाली करा दिया।

यदि मज़दूरों ने हंगामा न किया होता तो इस मज़दूर की मौत का पता भी किसी को नहीं चलता। इसके अगले ही दिन 24 मार्च को बादशाहपुर में एक अन्य निर्माणाधीन इमारत की छत से गिरने के कारण हुई एक अन्य मज़दूर की मौत की कोई ख़ास ख़बर मीडिया में नहीं आयी, और न ही इस घटना की कोई जाँच हुई। गुड़गाँव में हो रहे औद्योगिक विकास के साथ चारों तरफ बहुमंज़िला चमचमाती इमारतों का निर्माण ज़ोरों पर है जिसमें हज़ारों-हज़ार मज़दूर लगे हुए हैं। मगर कहीं भी कोई सुरक्षा इन्तज़ाम न होने का कारण आये दिन मज़दूर जानलेवा हादसों के शिकार होते रहते हैं, और ज़्यादातर मामलों में परिवार वालों को न तो इंसाफ़ मिलता है और न ही कम्पनी या ठेकेदार को कोई हरजाना देना पड़ता है। ऐसी दुर्घटनाओं में होने वाली मौत की घटनाओं को कम्पनियाँ अपने गुण्डों और प्रशासन के सहयोग से मरने वाले मज़दूर के परिवार को डरा-धमकाकर या थोड़ा-बहुत पैसा देकर छुपा देती हैं या फिर परिवार वाले सालों तक कम्पनी, सरकारी कार्यालयों और कोर्ट-कचहरी में न्याय के लिए चक्कर लगाते रह जाते हैं। निर्माण क्षेत्र में काम करने वाली बड़ी-बड़ी ठेकेदार कम्पनियाँ जैसे एल एन्ड टी, डी.एल.एफ़. आदि पूरे गुड़गाँव क्षेत्र में भारी संख्या में निर्माण के कामों में लगी हुई हैं। इनके लिए काम करने वाले निर्माण मज़दूरों का न तो कोई पहचान-पत्र बनता है और न ही कोई दूसरा प्रमाण उनके पास होता है जिसके आधार पर परिवार मुआवज़े की माँग को क़ानूनी दायरे में ला सके। ऐसे अनेक मज़दूर हैं जो काम पर हुई दुर्घटना के बाद अपंग हो जाने के कारण कहीं और काम नहीं कर सकते और उन्हें कोई मुआवज़ा भी नहीं मिलता। अक्सर शुरू-शुरू में कम्पनी थोड़ा-बहुत इलाज कराती भी है मगर उसके बाद मज़दूरों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाता है। दुर्घटनाएँ होती रहती हैं और इन्हीं के बीच देश की तरक़्क़ी दिखाने वाली आलीशान इमारतों का निर्माण लगातार चलता रहता है, जैसे मज़दूरों की जिन्दगी की कोई कीमत ही नहीं है।

गुड़गाँव में जिस तरह मज़दूरों का गुस्सा फूटा वह सिर्फ़ एक दुर्घटना का नतीजा नहीं है बल्कि पूरे देश में उत्पादन और निर्माण के हर क्षेत्र का जिस प्रकार ठेकाकरण हो रहा है उससे एक-एक कर मजदूरों के सभी अधिकार उनसे छीने जा रहे हैं, और मज़दूर खुलेआम ठेकेदारों और कम्पनियों के शोषण का शिकार बन रहे हैं। उस शोषण के विरुद्ध जमा हो रहे मज़दूरों का आक्रोश बीच-बीच में किसी घटना के बहाने सामने आ जाता है। लेकिन कोई संगठन या कोई दिशा न होने के कारण जल्दी ही गुस्से का ज्वार थम जाता है और सबकुछ फिर से पहले की तरह चलने लगता है। मगर ऐसी घटनाएँ सतह के नीचे धधक रहे ज्वालामुखी की एक आहट भर हैं। आज भारत की कुल मज़दूर आबादी का 93 प्रतिशत हिस्सा असंगठित मज़दूर आबादी का है, जिनके लिए कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता। निर्माण उद्योग में काम करने वाले ठेका मज़दूरों की संख्या में तेज़ी से बढ़ोत्तरी हो रही है जो इस असंगठित मज़दूर आबादी का एक हिस्सा हैं। इन मज़दूरों की समस्याओं की सुनवाई न तो श्रम विभाग में होती है, न किसी अन्य सरकारी दफ़्तर में। ठेकेदार इन मज़दूरों को दासों की तरह मनमर्ज़ी से जहाँ चाहे वहाँ स्थानान्तरित करते रहते हैं।

देश की बड़ी-बड़ी ट्रेड यूनियनें कुल मज़दूर आबादी के इस 93 प्रतिशत हिस्से की समस्याओं पर बस ज़ुबानी जमाखर्च करती रहती हैं। ये ट्रेड यूनियनें कुछ सफ़ेदपोश मज़दूरों के बीच कुछ प्रतीकात्मक कार्रवाइयाँ करके पूरे मेहनतकश वर्ग को गुमराह करने के साथ पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करती हैं। निर्माण क्षेत्र में ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों को नये सिरे से संगठित करते हुए उन्हें अपने अधिकारों के बारे में शिक्षित करने के साथ ही दूरगामी संघर्ष के लिए तैयार करने की आवश्यकता है। उनकी रोज़मर्रा की मांगों के लिए संघर्ष करते हुए दूसरे उद्योगों के मज़दूरों के साथ एकता क़ायम करनी होगी और उनमें सर्वहारा चेतना विकसित करने के लिए राजनीतिक रूप से शिक्षित-प्रशिक्षित करना होगा। तभी बीच-बीच में फूट पड़ने वाले विस्फोटों से आगे बढ़कर इस अँधेरगर्दी के ख़िलाफ़ कारगर लड़ाई लड़ी जा सकती है।

28 फरवरी की हड़ताल

(पेज 5 से आगे)

कर पातीं? अगर इनके नेताओं से पूछा जाये तो ये बड़ी बेशर्मी से इसका दोष भी मज़दूरों पर ही मढ़ देते हैं। दरअसल, ट्रेड यूनियनों के इन मौक़ापरस्त, दलाल, धन्धेबाज़ नेताओं का चरित्र इतना नंगा हो चुका है कि मज़दूरों को अब ये ठग और बरगला नहीं पा रहे हैं। एक जुझारू, ताक़तवर संघर्ष के लिए व्यापक मज़दूर आबादी को संगठित करने के लिए ज़रूरी है कि उनके बीच इन नकली मज़दूर नेताओं का, लाल झण्डे के इन सौदागरों का पूरी तरह पर्दाफ़ाश किया जाये। मगर ख़ुद को 'इंक़लाबी' कहने वाले कुछ संगठन ऐसा करने के बजाय हड़ताल वाले दिन भी कहीं-कहीं इन दलालों के पीछे-पीछे घूमते नज़र आये।

28 फ़रवरी की हड़ताल

एक और "देशव्यापी" तमाशा

बिगुल संवाददाता

वर्ष 1991 से देश में निजीकरण-उदारीकरण की वे नीतियाँ लागू करने का सिलसिला शुरू हुआ जिनके तहत मालिकों को मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ लेने की खुली छूट दी गयी और मज़दूरों के तमाम अधिकार एक-एक करके छिनते चले गये। तब से लेकर अब तक 14 बार तमाम केन्द्रीय यूनियनें मिलकर "देशव्यापी हड़ताल" और "भारत बन्द" करा चुकी हैं। लेकिन ऐसी हर हड़ताल और बन्द के बाद मज़दूरों की हालत में सुधार के बजाय उनकी लूट और शोषण में बढ़ोत्तरी ही होती रही है।

पिछली 28 फरवरी को जो हड़ताल हुई वह भी पिछले तमाम तमाशों से अलग नहीं थी। इसे आयोजित करने वालों में कांग्रेस पार्टी से जुड़ी इण्टक, भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी बीएमएस, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) से जुड़ी सीटू, सीपीआई से जुड़ी एटक सहित दर्जनभर केन्द्रीय यूनियनें शामिल थीं। इन यूनियनों से जुड़े बहुत से नेता तो संसद और विधानसभाओं में भी बैठते हैं।

पिछले 20-21 साल के दौरान निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का बुलडोज़र मज़दूरों पर चलता रहा है, पहले से मिले हुए उनके अधिकार भी एक-एक करके छीने जाते रहे हैं और सभी पार्टियों की सरकारें इसमें शामिल रही हैं। इण्टक और बीएमएस के नेता तो इन नीतियों का उग्र विरोध करने की बात सोच भी नहीं सकते, मगर मज़दूरों की रहनुमाई का दावा करने वाले नकली वामपंथियों ने भी संसद में गत्ते की तलवार भाँजने और टीवी पर गाल बजाने के अलावा और कुछ नहीं किया है। करें भी कैसे? पश्चिम बंगाल और केरल में जहाँ उनकी सरकारें थीं, वहाँ तो वे उन्हीं नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू कर रहे थे। लेकिन मज़दूर वर्ग के इन ग़द्दारों की मजबूरी यह है कि उनकी दुकान का शटर डाउन न हो जाये इसके लिए उन्हें मज़दूरों के बीच अपनी साख बचाये रखने के वास्ते कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इसीलिए वे बीच-बीच में विरोध के नाम पर कुछ नाटक-नौटंकी करते रहते हैं। सभी पार्टियों को मज़दूरों-कर्मचारियों के वोट चाहिए, इसलिए एक तरफ वे संसद में बैठकर मज़दूरों को लूटने-खसोटने वाली नीतियाँ बनाती हैं और दूसरी तरफ बीच-बीच में मज़दूरों के हित की चिन्ता का दिखावा भी करती रहती हैं।

ट्रेड यूनियन की बड़ी-बड़ी दुकानें चलाने वाले मज़दूर-हितों के वामपंथी सौदागरों का सबसे बड़ा आधार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में संगठित मज़दूरों तथा निजी क्षेत्र के कुछ बड़े उद्योगों में काम करने वाले संगठित मज़दूरों के बीच था। निजीकरण-उदारीकरण की आँधी में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के लाखों संगठित मज़दूरों की नौकरियाँ तो गयीं ही, इन धन्धेबाज़ों के ज़्यादातर तम्बू-कनात भी उखड़ गये। आज देश की 45-46 करोड़ मज़दूर आबादी में से करीब 93 प्रतिशत असंगठित मज़दूर हैं जिन्हें संगठित करने की बात तो दूर, उनकी माँग उठाना भी ट्रेड यूनियन के इन मदारियों ने कभी ज़रूरी नहीं समझा। मगर मज़दूरों की इस भारी आबादी में भीतर-भीतर सुलगते गुस्से और बग़ावत की आग को भाँपकर अब ये न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ठेका प्रथा जैसी माँगों के सहारे असंगठित मज़दूरों के बीच अपनी पैठ बनाने के लिए उछलकूद कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि सरकार और पूँजीपतियों से रियायतों के कुछ टुकड़े माँगने में सफल हो जायें जिससे इस विशाल मज़दूर आबादी के बढ़ते आक्रोश पर पानी के छींटे डाले जा सकें। लेकिन इनके सारे संगठन ऊपर से नीचे तक इतने ठस और जर्जर हो चुके हैं कि चाहकर भी ये अपनी ताक़त का ज़ोरदार प्रदर्शन नहीं कर पाते।

आज करोड़ों-करोड़ मज़दूर भयानक शोषण के शिकार हैं। किसी भी इलाक़े में कोई भी श्रम क़ानून लागू नहीं होता। 12-12 घण्टे काम करने के बाद भी इस जानलेवा महँगाई में इतना नहीं मिलता कि मज़दूर चैन और इज़्ज़त के साथ दो रोटी खा सके। मालिक जब चाहे जिसे भी निकालकर बाहर कर सकते हैं, पैसे मार सकते हैं, मगर कहीं कोई सुनवाई नहीं होती। मज़दूर जान पर खेलकर काम करते हैं और आये दिन दुर्घटना और बीमारी के शिकार होते रहते हैं। स्त्री मज़दूरों की हालत तो और भी बदतर है। क़दम-क़दम पर अपमान और ज़िल्लत भी बर्दाश्त करनी पड़ती है। ऐसे में मज़दूरों की माँगों पर लम्बी तैयारी के साथ ज़बर्दस्त जुझारू आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए ज़रूरी है कि मज़दूरों को उनके हक़ों के बारे में जागरूक और शिक्षित किया जाये और ज़मीनी तौर पर छोटी-छोटी लड़ाइयों के ज़रिये उनको मज़बूत और जुझारू तरीक़े से संगठित किया जाये। मगर बड़ी-बड़ी यूनियनों के बड़े-बड़े नेता आलीशान दफ़्तरों में बैठकर डीलिंग करते हैं और निचले स्तर पर उनके लोग घटिया क़िस्म की दल्लागीरी में लगे रहते हैं। मज़दूरों को उनके हक़ों के बारे में जागरूक करने से तो उनकी दुकानदारी ही चौपट हो जायेगी। इसलिए हड़ताल के नाम पर कुछ रस्मी क़वायदों से ज़्यादा ये कुछ कर ही नहीं सकते।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। ज़्यादातर मज़दूरों में हड़ताल को लेकर न कोई उत्साह था न इच्छा। हालाँकि कई महीने पहले से इसकी घोषणा हो गयी थी लेकिन ज़्यादातर कारख़ाना इलाक़ों और मज़दूर बस्तियों में इसकी कोई तैयारी नहीं थी। बस हफ़्ता भर पहले से टैम्पो में माइक बाँधकर दो-चार जगह भाषण हो गये और कुछ पोस्टर चिपका दिये गये। मालिक भी इसके लिए तैयार ही थे – कुछ ने पहले से ही काम की रफ़्तार तेज़ कराके प्रोडक्शन पूरा करा लिया था तो कुछ ने छुट्टी रद्द करके बाद में काम करा लिया। बहुत-सी फ़ैक्ट्रियाँ तो उस दिन भी गेट बन्द करके चलती ही रहीं। बैंक, बीमा, पोस्टऑफ़िस आदि के कर्मचारियों और सार्वजनिक क्षेत्र के कारख़ानों में ज़रूर हड़ताल का कुछ असर रहा। ज़्यादातर औद्योगिक इलाक़ों में मज़दूरों को एकजुट करने का कोई कार्यक्रम भी नहीं लिया गया। जो मज़दूर काम पर नहीं गये वे भी कमरों में बैठकर छुट्टी मनाते रहे। सच तो यह है कि ऐसे नपुंसक किस्म के कार्यक्रम सरकार और पूँजीपतियों का हौसला बढ़ाने का ही काम करते हैं। वे समझ जाते हैं कि बिखरे और नेतृत्वहीन मज़दूर वर्ग में अभी इतनी ताक़त नहीं है कि उनके अन्धाधुन्ध लूट अभियान की राह रोक सके। सरकार इनको कितनी गम्भीरता से लेती है इसको इसी बात से समझा जा सकता है कि हड़ताल से कुछ ही दिन पहले राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में प्रधानमंत्री ने केन्द्रीय यूनियनों के नेताओं के सामने कहा कि देश के विकास के लिए ज़रूरी है कि मालिकों को और ज़्यादा छूट दी जाये – इसके लिए आप लोग मज़दूरों को तैयार कीजिये।

सवाल उठता है कि लाखों-लाख सदस्य होने का दावा करने वाली ये बड़ी-बड़ी यूनियनें करोड़ों मज़दूरों की ज़िन्दगी से जुड़े बुनियादी सवालों पर भी कोई जुझारू आन्दोलन क्यों नहीं

(पेज 4 पर जारी)

गुड़गाँव औद्योगिक क्षेत्र

सतह के नीचे सुलगते मज़दूर असन्तोष को दिशा देने की ज़रूरत

गुड़गाँव संवाददाता

बीते 19 मार्च को गुड़गाँव की ओरियंट क्राफ़्ट कम्पनी में कई मज़दूरों के साथ ठेकेदार द्वारा मारपीट करने के बाद भड़के मज़दूरों के गुस्से ने एक बार फिर साबित कर दिया कि गुड़गाँव औद्योगिक क्षेत्र के कारख़ानों में हो रहे अमानवीय शोषण और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ मज़दूरों में भयंकर रोष व्याप्त है। किसी नेतृत्व के अभाव और अपनी जायज़ माँगों के लिए संगठित होकर कोई व्यापक आन्दोलन न कर पाने की स्थिति का नतीजा यह होता है कि मज़दूरों का गुस्सा इस प्रकार की घटनाओं के बहाने सड़क पर फूट पड़ता है जिसे अन्त में कम्पनी के गुण्डों या पुलिस दमन के बल पर कुचल दिया जाता है। इसके बाद ज़्यादातर मज़दूर दूसरी जगहों पर काम पकड़ लेते हैं या न्याय की आस में न्यायालयों के चक्कर लगाते रह जाते हैं।

इधर देखने में आ रहा है कि कुछ मज़दूर संगठन मान बैठे हैं कि गुड़गाँव में मज़दूरों के सभी स्वत:स्फूर्त विरोध और छिटपुट हड़तालें पिछले साल मारुति सुज़ुकी में हुए आन्दोलन के प्रभाव से हो रही हैं। इस प्रकार की स्वत:स्फूर्त घटनाओं से आशा बाँधे बैठे इन मज़दूर संगठनों के पास गुडगाँव जैसे लगातार विकसित हो रहे औद्योगिक क्षेत्र की विशाल मज़दूर आबादी को संगठित करने के लिए न तो कोई ठोस कार्यक्रम है और न सही समझ। मारुति की हड़ताल के दौरान शुरू हुआ स्वत:स्फूर्तता का जश्न मनाने का सिलसिला अभी जारी है। पिछले साल तीन चरणों में चले मारुति सुज़ुकी के आन्दोलन के समय ऐसा एक अवसर आया था जब मानेसर-गुड़गाँव और आसपास के विशाल औद्योगिक क्षेत्र के लाखों मज़दूरों की साझा माँगों को उठाकर एक व्यापक आन्दोलन खड़ा करने का प्रयास किया जा सकता था। सीटू, एटक, एचएमएस जैसी केन्द्रीय यूनियनों से ऐसी उम्मीद करना बेमानी था, उन्होंने अपने चरित्र के ही अनुरूप आचरण करते हुए आन्दोलन को थकाकर धोखेभरे समझौतों के दलदल में धँसाने का काम किया। लेकिन क्रान्तिकारी वाम धारा के अनेक संगठन बस मानेसर की "तीर्थयात्रा" करते रहे और देश में "मज़दूर आन्दोलन की नयी लहर" के पैदा होने का खुशफ़हमी भरा इन्तज़ार करते रहे। केवल बिगुल मज़दूर दस्ता लगातार यह पक्ष रखता रहा कि आन्दोलन को एक सुनियोजित-सुसंगठित रणनीति बनाकर जुझारू ढंग से चलाया जाये तथा ट्रेड यूनियन अधिकारों के अपहरण, श्रम क़ानूनों के खुले उल्लंघन और काम की अमानवीय परिस्थितियों जैसे साझा मुद्दों के आधार पर इस आन्दोलन को विस्तार देने की कोशिश की जाये।

आज मज़दूरों का जो गुस्सा सड़कों पर सामने आ रहा है यह इस बात का प्रमाण है कि पूरे गुड़गाँव क्षेत्र के मज़दूरों में अपनी स्थिति को लेकर भारी असन्तोष है जिसे एक दिशा देने की ज़रूरत भी है और सम्भावना भी। गुड़गाँव में लगभग 10,000 कारखाने हैं, जहाँ पूरे साल स्थायी काम होता है, और जिनमें काम करने वाले ज़्यादातर मजदूर ठेके पर रखे जाते हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि इनमे से सिर्फ 100 कारख़ानों में ही नाम मात्र के लिए मज़दूर अपनी ट्रेड यूनियन बना सके हैं। ज़्यादातर जगह यदि मज़दूर यूनियन बनाने की माँग उठाते हैं तो अगुवा मज़दूरों को निशाने पर लेकर मारपीट की जाती है या काम से निकाल दिया जाता है। यह सब मालिकों-ठेकेदारों और श्रम विभाग की मिलीभगत से होता है।

कई कारख़ानों के मज़दूरों से बात करने पर पता चलता है कि आये दिन मज़दूरों से जबरन ओवरटाइम करवाया जाता है, और अगर कोई मज़दूर ओवरटाइम से मना करता है तो कारख़ाने के अन्दर मालिक के गुण्डे डराते-धमकाते हैं और अक्सर बिना पैसे दिये काम से निकाल देते हैं, जिससे कि मज़दूरों में डर बना रहे। गाली-गलौच तो आम बात है। मज़दूरों ने बताया कि कभी भी उनका वेतन समय पर नहीं दिया जाता और छह दिन से एक महीने तक का वेतन रोककर रखा जाता है। ऐसा ही कुछ ओरियंट क्राफ़्ट में भी हुआ जहाँ रविवार के दिन काम पर न आने के कारण ठेकेदार ने सोमवार को मज़दूरों के साथ गाली-गलौच की और एक मज़दूर के पेट में कैंची मारकर बुरी तरह घायल कर दिया। इस घटना के तुरन्त बाद मज़दूरों का दबा हुआ गुस्सा फूट पड़ा और उन्होंने सड़क पर खड़े वाहनों में तोड़-फ़ोड़ शुरू कर दी।

इसी घटना के सन्दर्भ में बहरामपुर स्थित एस.जी.एम. फ़िल्टर्स फ़ैक्ट्री में काम करने वाले एक मज़दूर ने बताया कि उसकी फ़ैक्ट्री में भी ज़्यादातर मज़दूर ठेके पर काम करते हैं और उनकी स्थिति भी बिल्कुल ऐसी ही है, जो एक वेतन पाने वाले गुलाम से ज़्यादा कुछ भी नहीं है। इससे पहले भी कई बार उद्योग-विहार स्थित कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों ने काम की अमानवीय परिस्थियों के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाने की कोशिश की, परन्तु मालिकों और पुलिस की मिलीभगत और सही नेतृत्व की कमी के कारण उनका संघर्ष किसी आन्दोलन का रूप न ले सका।

पिछले कुछ समय से गुडगाँव में अलग-अलग कारख़ानों में भड़के मज़दूरों के गुस्से को देखकर आसानी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि इस पूरे औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाली मज़दूर आबादी ज़बरदस्त शोषण का शिकार है। सिर्फ़ ठेका मज़दूर ही शोषण का शिकार नहीं हैं, बल्कि कई कारख़ानों में स्थायी नौकरी वाले मज़दूरों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। मारुति, पावरट्रेन, हीरो होण्डा, मुंजाल शोवा आदि इसके उदाहरण है। मगर नेतृत्व और किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में शोषण और उत्पीड़न से बेहाल इस मज़दूर आबादी का आक्रोश अराजक ढंग से इस प्रकार की घटनाओं के रूप में सड़कों पर फूट पड़ता है। इसके बाद पुलिस और मैनेजमेण्ट का दमन चक्र चलता है जिसका मुकाबला बिखरे हुए मज़दूर नहीं कर पाते और गुस्से का उबाल फिर शान्त हो जाता है।

बीच-बीच में फूट पड़ने वाली ऐसी घटनाओं पर ख़ुश होकर तालियाँ बजाने के बजाय ज़रूरत यह है कि असंगठित क्षेत्र की इस विशाल मज़दूर आबादी के बीच क्रान्तिकारी प्रचार-प्रसार करते हुए उनकी मूलभूत माँगों जैसे काम के उचित घण्टे, जबरन ओवरटाइम बन्द करवाने, प्रबन्धन की गुण्डागर्दी बन्द करने, ट्रेड यूनियन अधिकारों आदि पर मजदूरों को संगठित करने की कोशिश की जाये। सुधारवादी, अर्थवादी और धन्धेबाज़ ट्रेड यूनियनों का असली चेहरा मज़दूरों को दिखाया जाये और उनके बीच सुलगते रोष को एक सही क्रान्तिकारी दिशा देने की शुरुआत की जाये।

पीसरेट पर काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की अँधेरी ज़िन्दगी

दृश्य एक : उत्तर पश्चिम दिल्ली में बादली औद्योगिक क्षेत्र के पीछे राजा विहार बस्ती में एक छोटा-सा कमरा जिसमें चार स्त्रियाँ बैठकर एक बेहद छोटे-से स्प्रिंग के दोनों सिरों पर पतले-पतले तारों को प्लास की सहायता से निकाल रही थीं। मैंने भी उनसे लेकर स्प्रिंग के तार निकालने की कोशिश की, लेकिन तार इतना महीन था कि प्लास से पकड़ना तो दूर मुझे तो वह दिखाई ही नहीं दे रहा था। पूछने पर पता चला कि एक हज़ार स्प्रिंग के तार निकालने पर बीस रुपये मिलते हैं। कभी-कभी एक औरत पूरे दिन में एक हज़ार पीस ही कर पाती है।

दृश्य दो : ऐसा ही एक दूसरा नीमअँधेरा कमरा जहाँ एक स्त्री नीचे बैठकर मोबाइल चार्जर के अन्दर की वायरिंग लपेट रही थी। उसे 100 पीस पर 6 रुपये मिलते हैं।

दृश्य तीन : एक छोटे-से अँधेरे कमरे में तीन-चार महिलाएँ 10-10 प्लास्टिक के चम्मचों की गड्डी बना रही थीं। उन्हें एक बोरी चम्मचों के तीस रुपये मिलते हैं।

दिल्ली में मध्यवर्गीय इलाकों की चकाचौंध से दूर मज़दूर बस्तियों में बीड़ी बनाने, ज़री, कढ़ाई, रेडीमेड कपड़ों के धागे काटना, पैकेटों में बिन्दी चिपकाना, बच्चों के खिलौने, सिलाई, लेबल चिपकाना, स्क्रैप से सामान छाँटना, पुराने टायरों से धातु के तार निकालना, मूँगफली या बादाम तोड़ना, दस्तानों व मोज़ों की छँटाई जैसे अनगिनत काम होते हैं और एक बहुत बड़ी आबादी इनमें लगी हुई है। अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की 2006 की रिपोर्ट के मुताबिक देश में आठ करोड़ से ज़्यादा स्त्रियाँ घर पर रहकर कोई न कोई काम करती हैं। इनमें से 80 प्रतिशत स्त्रियाँ पीस रेट पर काम करती हैं।

देश की तरक्की के लम्बे-चौड़े दावे किये जा रहे हैं। सकल घरेलू उत्पाद में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी दिखायी जा रही है। मगर इस तरक्की में इन औरतों के श्रम का योगदान किसी को कहीं नहीं दिखायी देता है। अपने सारे घरेलू काम करने के अलावा ये औरतें 10-12 घण्टे काम करती हैं। बेहद कम मज़दूरी पर ये हाड़ गलाकर, आँख फोड़कर दिन-रात सबसे ज़्यादा मेहनत वाले, उबाऊ और थकाऊ कामों में लगी रहती हैं। कई स्त्रियाँ इसलिए भी घर पर काम करती हैं क्योंकि अपने छोटे बच्चों को घर छोड़कर फैक्ट्री में नहीं जा सकती हैं, या फैक्ट्री के माहौल के कारण वहाँ जाकर काम नहीं करना चाहतीं। कुछ महिलाएँ अपने पिछड़ेपन या पति के पिछड़ेपन की वजह से बाहर काम नहीं करना चाहती हैं, और इन वजहों से भी मालिकों की चाँदी हो जाती है–एक तो उन्हें बहुत कम मज़दूरी देनी पड़ती है, दूसरे, जगह के किराये, पानी-बिजली, मशीन-औज़ार, मेण्टेनेंस जैसे खर्चों से छुटकारा मिल जाता है। इनका भयंकर शोषण होता है, इन्हें कोई भी सामाजिक सुरक्षा नहीं मिलती, कोई श्रम कानून इन पर लागू नहीं होता है। किसी भी सरकारी विभाग में इन्हें मज़दूर माना ही नहीं जाता। लेकिन सबसे बुरी बात तो ये है कि ये औरतें खुद को मज़दूर मानती ही नहीं हैं, उन्हें लगता है कि अपने खाली समय में या घर पर बैठे-बैठे थोड़ा-बहुत कमा लेती हैं जिससे बच्चों को थोड़ा बेहतर खाने को मिल जाता है या कर्ज़ का बोझ कुछ कम हो जाता है।

– घर पर होने वाले कुछ कामों के रेट –

एक बोरी मूँगफली छीलना – 30 रुपये
24 इंच की माला बनाना – 30 पैसे
एक किलो टूटे काँच से गोल काँच की छँटाई – 1 रुपया
144 हेयर बैण्ड बनाना – 1 रुपया
144 चाभी के छल्ले बनाना – 1 रुपया
144 पैकेटों में बिन्दी चिपकाना – 4 रुपये
एक लेडीज सूट की सिलाई – 20-25 रुपये
मोती की 100 चूड़ियाँ – 7 रुपये
खिलौनों के लिए 144 सीटियाँ बनाना – 60 पैसे
1000 शीशियों में चूना भरना – 1 रुपये

पिछले 15-16 सालों में ज़्यादातर कामों का रेट नहीं बढ़ा है, या बहुत ही कम बढ़ा है – कुछ कामों का रेट तो और भी कम हो गया है।

काम करने की बेहद खराब परिस्थितियों के कारण ये तमाम तरह की बीमारियों की शिकार होती हैं – गर्दन, पीठ, कमर, टाँगों, सिर और पेट में दर्द, घुटनों में सूजन, उँगलियों में अकड़न, आँखों से पानी गिरना, साँस व फेफड़े की बीमारियाँ, काँच, तेज़ाब, केमिकल आदि से कटना, जलना, घाव हो जाना। ज़्यादातर औरतें इन तकलीफ़ों के बावजूद इलाज नहीं कराती, और चुपचाप काम में लगी रहती हैं।

साल 2008 में एक संस्था के सर्वेक्षण के मुताबिक ज़्यादातर औरतें घर के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर रोज 7-8 घण्टे काम करके रोज़ाना औसतन 32-33 रुपये ही कमा पाती हैं – इन्हें महीने में औसतन 16 दिन ही काम मिल पाता है। अगर लगातार काम मिले तो भी दिनों-रात काम करके पीस रेट से कोई औरत मज़दूर ज़्यादा से ज़्यादा 3000 रुपये महीना ही कमा पाती है, लेकिन ऐसी औरतें कम ही हैं। इतने कम पैसे मिलने पर भी वे काम छोड़ नहीं सकती क्योंकि हज़ारों दूसरी औरतें काम के इन्तज़ार में बैठी रहती हैं।

इन औरतों में से सिर्फ़ छह प्रतिशत ऐसी हैं जिनके घर में किसी के पास परमानेण्ट नौकरी है। ज़्यादातर के पिता या पति दिहाड़ी, कैजुअल या टेम्परेरी मज़दूर हैं या खुद कोई छोटा-मोटा काम-धन्धा करते हैं। कई ऐसे भी हैं जहाँ पूरा परिवार मिलकर घर पर पीस रेट पर काम करता है। इनमें आधी से ज्यादा महिलाएँ कर्ज़ में डूबी हैं। 93 प्रतिशत औरतों के पास अगले महीने के लिए या हारी-बीमारी के दिनों के लिए कुछ भी नहीं बच पाता।

ज़्यादातर स्त्रियाँ ठेकेदारों से काम लाकर करती हैं या आस-पास की फैक्ट्रियों से खुद काम लाती हैं। माल लाना और पहुँचाना भी अपने खर्चे पर करना पड़ता है। गिनती या तौल में मामूली-सा फ़र्क होने पर भी ठेकेदार काफ़ी पैसे काट लेता है। कम पढ़ी-लिखी या अनपढ़ होने के कारण वे इनके हिसाब में गड़बड़ी भी करते हैं। ज़्यादातर औरतों को सुई, धागा, कैंची, हथौड़ी, प्लास, सीरिंज, कढ़ाई के फ्रेम जैसी चीज़ें भी अपने पास से ही ख़रीदनी पड़ती हैं।

पिछले 20-22 वर्षों में जो आर्थिक नीतियाँ पूरी दुनिया में लागू हुई हैं उसमें एक कारख़ाने के भीतर होने वाली 'फैक्ट्री असेम्बली लाइन' को एक दूसरे से जुड़ी अलग-अलग इकाइयों में बाँटकर पूरी दुनिया में फैला दिया गया है और ग़रीब देशों की स्त्रियों की भारी आबादी को इससे जोड़कर पूँजी की सबसे निचली कोटि का उजरती गुलाम बना दिया है। छोटे-छोटे दड़बों जैसे कमरों में काम करने वाली औरतें भी कई ठेकेदारों और छोटी कम्पनियों से होते हुए ऊपर बैठे बड़े मालिकों के लिए सस्ते श्रम का भण्डार बन चुकी हैं। ऑटो पार्ट्स और मोबाइल व कम्प्यूटर के पुर्ज़ों से लेकर गारमेण्ट एक्सपोर्ट करने वाली बड़ी कम्पनियाँ तक उनकी मेहनत की लूट से मालामाल हो रही हैं।

यह एक ऐसी मज़दूर आबादी है जो आज अपने हक़ के लिए आवाज़ उठा ही नहीं सकती है। स्थापित ट्रेड यूनियनों की कार्यसूची में भी ये औरतें और उनकी माँगें कहीं नहीं आती हैं। बस सिर्फ आनुष्ठानिक तरीके से कभी-कभार इनके बारे में भी वे कुछ बातें कह देते हैं जिनका कोई मतलब नहीं होता है। मगर क्रान्तिकारी मज़दूर कार्यकर्ताओं के सामने इन मज़दूर स्त्रियों को संगठित करना आज एक बड़ी चुनौती है। सबसे पहले तो उन्हें इस बात का अहसास कराना होगा कि वे जो काम करती हैं उसकी श्रमशक्ति के वास्तविक मूल्य का एक छोटा-सा हिस्सा भी उन्हें नहीं मिलता है।

पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों सबसे पहली माँग यह बनती है कि उन्हें "स्वरोजगार" की श्रेणी में रखने के बजाय उस मालिक या कॉंट्रैक्टर का कर्मचारी माना जाये जिसके लिए वे काम करते हैं। अलग-अलग उद्योगों में जितनी न्यूनतम मज़दूरी तय हो और एक कार्य दिवस में औसतन जितने पीस तैयार हो सकते हैं, उस न्यूनतम मज़दूरी की राशि में पीसों की संख्या से भाग देकर न्यूनतम पीस रेट तय किया जाना चाहिए। उन्हें ठेका मज़दूरों को क़ानूनन मिलने वाले सभी अधिकार व सुरक्षा मिले।

● **कविता**

घरेलू मज़दूरों के निरंकुश शोषण पर एक नज़र

गुड़गाँव में एक मकान में रहने वाले किरायेदारों के यहाँ चोरी के शक में मकानमालिक ने घर पर बिजली का काम करने आये एक मज़दूर पर चोरी का इल्ज़ाम लगाकर उसके साथ मारपीट की और बाद में पुलिस बुलाकर उस मज़दूर को थाने ले गया। यह मज़दूर बिहार से आकर पिछले 15 वर्षों से घरों में खाना बनाने के साथ ही इलेक्ट्रीशियन का भी काम कर रहा है। इस वजह से शहर के कई लोग उसे जानते थे और उनके कहने अन्त में उसे छोड़ा गया। दिल्ली की एक पॉश कालोनी में एक डॉक्टर दम्पति अपने घर पर काम करने वाली झारखण्ड की एक किशोर उम्र लड़की को घर में बन्द करके विदेश चले गये। कई दिन बाद किसी तरह उसने पड़ोसियों को ख़बर की तो पुलिस ने उसे बाहर निकाला। ये कोई अनहोनी घटनाएँ नहीं हैं।

सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में होने वाले किसी भी अपराध के लिए सबसे पहले घरेलू नौकरों या वहाँ काम करने वाले मज़दूरों पर ही शक़ किया जाता है। पुलिस भी उन्हें ही सबसे पहले पकड़ती है और अपराध क़बूलवाने के लिए पुलिस की बर्बर पिटाई से घरेलू मज़दूरों की मौत के अनगिनत उदाहरण हैं। मालिक भी बेख़ौफ़ अपना हक़ समझते हैं कि अपने घर में काम करने वाले कामगारों के साथ मनमाना सुलूक़ करें। कम उम्र के नौकरों को गर्म लोहे से दागने, बुरी तरह मारने-पीटने और स्त्री मज़दूरों के साथ बदसलूक़ी की घटनाएँ बहुत आम हैं। कुछ महीने पहले एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी द्वारा अपने घर में काम करने वाली एक बच्ची को चोरी के शक में यातनाएँ देकर मार डालने की बर्बर घटना अख़बारों में आयी थी।

पिछले 15-20 वर्षों में घरेलू काम में लगे असंगठित मज़दूरों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है, जो पूँजी की मार से देश के अलग-अलग हिस्सों से उजड़कर दिल्ली, गुड़गाँव, नोएडा, बेंगलोर, चेन्नई, मुम्बई, बड़ौदा जैसे महानगरों में आकर काम की तलाश करते हैं। ये मज़दूर बर्तन धोना, खाना बनाना, सफ़ाई करना, माली का काम, घरों में बिजली और प्लम्बर का काम, घरों के सुरक्षा गार्ड, ड्राइवर, बच्चों की देख-रेख जैसे अनेक काम करते हैं, और बड़ी मुश्क़िल से किसी तरह अपना और परिवार का गुज़र-बसर करते हैं। इन कामों में ज़्यादातर बच्चे भी अपने माता या पिता के काम में हाथ बँटाते हैं। बड़ी संख्या में शहरों में लाकर बेचे गये अनेक बच्चे भी इस तरह के कामों में बँधुआ मज़दूरों की तरह खट रहे हैं।

लगातार कम हो रहे रोज़गार के अवसरों के चलते उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों से लाखों-लाख ग़रीब मज़दूर और किसान परिवार उजड़कर रोज़गार की तलाश में महानगरों की ओर आ रहे हैं। पिछले 20-30 वर्षों के दौरान महानगरों में मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय आबादी की संख्या और सम्पन्नता में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। इंजीनियर, डॉक्टर, पत्रकार, शिक्षक, मैनेजमेण्ट व मार्केटिंग के लोगों, दुकानदारों और निजी तथा सरकारी क्षेत्र के नौकरीपेशा लोगों की आमदनी लगातार बढ़ रही है। उनके लिए कमाई के दूसरे अवसर भी बढ़े हैं। इस नये मध्य वर्ग और आम ग़रीब आबादी के बीच का अन्तर लगातार बढ़ता जा रहा है और यह वर्ग भी अब घरेलू काम करवाने के लिए मज़दूरों की तलाश करता है।

बढ़ती महँगाई और बेरोज़गारी के चलते घरेलू काम करने वाली औरतों और बच्चों की संख्या बढ़ रही है। अब बहुत से पुरुष भी फैक्टरियों में काम न मिलने के कारण घरों में काम करने लगे हैं। इन मज़दूरों की आमदनी का कोई स्थाई ज़रिया नहीं होता, और न ही मज़दूरी और काम के घण्टों का कोई नियम होता है। इनका वेतन और काम पूरी तरह से काम करवाने वाले मालिक परिवार की इच्छा पर निर्भर करता है, जिसके कारण ये लगातार एक जगह से दूसरी जगह काम बदलते रहते हैं।

'सोशल एलर्ट' द्वारा 2008 में जारी रिपोर्ट के अनुसार भारत में लगभग 10 करोड़ महिलाएँ, बच्चे और पुरुष घरेलू काम करके आजीविका कमाते हैं। घरेलू काम करने वाली यह आबादी असंगठित मज़दूरों की उस आबादी का हिस्सा है जो भारत की कुल मज़दूर आबादी का लगभग 93 प्रतिशत है। घरेलू कामों में लगी यह मज़दूर आबादी सॉफ़्टवेयर में काम करने वाले लोगों की संख्या से 50 गुना अधिक है। भारत में काम करने वाले कुल बच्चों में से 20 फ़ीसदी घरेलू काम करते हैं। घरेलू काम करने वाले 50 प्रतिशत बाल

(पेज 2 पर जारी)

योजना आयोग द्वारा ग़रीबी के नये आँकड़े जारी

ये दरिद्रता के आँकड़े नहीं बल्कि आँकड़ों की दरिद्रता है

योजना आयोग द्वारा जारी ग़रीबी के नये आँकड़ों को मानें तो 2004-2005 से 2009-2010 के बीच देश में ग़रीबों की संख्या में भारी कमी आ गयी है। जो काम पिछले 50 वर्ष में नहीं हुआ वह इन पाँच वर्षों में हो गया! ग़रीबी-रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 37.2 प्रतिशत से गिरकर केवल 29.9 प्रतिशत रह गयी! इन चमत्कारिक आँकड़ों को देखने के बाद यह सवाल उठना लाज़िमी है कि सरकार ने आख़िर वह कौन-सी जादू की छड़ी घुमायी कि विश्वव्यापी आर्थिक संकट और आसमान छूती महँगाई के इस दौर में भी, जब ग़रीब तो क्या आम मध्य वर्ग का भी जीना दूभर हो गया है, इतनी भारी तादाद में लोगों को ग़रीबी से छुटकारा मिल गया। दरअसल इस जादू की छड़ी को कहते हैं - आँकड़ों की बाज़ीगरी, जिसमें योजना आयोग के उपाध्यक्ष और मनमोहन सिंह के चहेते मोंटेक सिंह अहलूवालिया ने महारत हासिल कर ली है।

यह वही मोंटेक सिंह हैं जिनकी अभी कुछ महीने पहले ही खूब जगहँसाई और छीछालेदर हुई थी जब उनकी अगुआई में योजना आयोग ने उच्चतम न्यायालय में हलफ़नामा देकर दावा किया था कि देश के ग्रामीण इलाकों में जो लोग रोज़ाना 26 रुपये (रु. 781 प्रतिमाह) और शहरी इलाकों में जो लोग रोज़ाना 32 रुपये (रु. 965 प्रतिमाह) खर्च कर सकते हैं उनको ग़रीब नहीं माना जायेगा। अगर किसी को लग रहा हो कि चारो ओर से थुक्का-फ़जीहत के बाद योजना आयोग और अहलूवालिया बुद्धि और संवेदना की ग़रीबी रेखा से ऊपर उठेंगे और और उनको देश के ग़रीबों पर थोड़ा तरस आयेगा, तो ग़रीबी के नये आँकड़ों को देखकर उसको एक तगड़ा झटका लगेगा। इन नये आँकड़ों के मुताबिक यदि ग्रामीण इलाके में कोई व्यक्ति प्रतिदिन 22.42 रुपये (रु. 673 प्रतिमाह) और शहरी इलाके में प्रतिदिन 28.35 रुपये (रु 859 प्रतिमाह) से अधिक खर्च करता है तो वह ग़रीबी रेखा से ऊपर माना जायेगा। जी हाँ! आपने गलत नहीं पढ़ा है, यह ग़रीबी-रेखा उच्चतम न्यायालय में दायर हलफ़नामे की ग़रीबी-रेखा से भी नीचे है। कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि यह रेखा ग़रीबी तो क्या अब तो भुखमरी की भी रेखा नहीं कही जा सकती क्योंकि इस रेखा के ऊपर भी ऐसे तमाम लोग होंगे जो कुपोषण और भुखमरी के शिकार होंगे। इसके बावजूद एक धूर्त और मक्कार क़ानूनची की तरह अहलूवालिया बेशर्मी से इस बात की रट लगाये हुए हैं कि देश में ग़रीबी कम हुई है।

योजना आयोग के ये नये आँकड़े सुरेश तेन्दुलकर समिति की सिफ़ारिशों के आधार पर तैयार किये गये हैं और इनका स्रोत है राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 66वें चक्र के उपभोक्ता खर्चे के आँकड़े। गौरतलब है कि तेन्दुलकर समिति वर्ष 2009 में ग़रीबी की रेखा को नापने के तरीके में सुधार के लिए बनायी गयी थी। लेकिन जैसा कि हालिया आँकड़ों से स्पष्ट है कि इस समिति की सिफ़ारिशें भी भारत में ग़रीबी रेखा को नापने की पद्धति की गम्भीर त्रुटियों को दूर नहीं कर सकी हैं।

पहले ग़रीबी रेखा तय करने का पैमाना एक स्वस्थ व्यक्ति को जिलाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम किलोकैलोरी की मात्रा पर आधारित था। गाँवों में यह पैमाना 2400 किलोकैलोरी और शहरों में 2100 किलोकैलोरी तय किया गया था। वर्ष 1973-74 में योजना आयोग ने पहली और आख़िरी बार इस पैमाने के आधार पर सीधे-सीधे न्यूनतम आवश्यक खाद्य सामग्री का आकलन किया और फिर यह हिसाब लगाया गया कि उस समय की कीमतों के अनुसार इसके लिए कितनी न्यूनतम आय होनी चाहिए। 1974 के बाद से हर पाँच वर्ष पर उपभोग खर्च का आकलन करने के लिए न्यूनतम आवश्यक भोजन का नये सिरे से ख़र्च निकाल कर ग़रीबी रेखा तय करने की बजाय पुरानी ग़रीबी रेखा का कीमत सूचकांकों के साथ समाकलन शुरू कर दिया गया। इसकी वजह से ही ग़रीबी रेखा मापन की प्रक्रिया में एक गम्भीर त्रुटि उत्पन्न हुई। कीमत सूचकांक का इस्तेमाल केवल कर्मचारियों के महँगाई भत्ते में किया जा सकता है क्योंकि वह सिर्फ़ बाज़ार में कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ाव पर ही निगाह रखता है, वह भी आंशिक रूप से। जैसे-जैसे समय बीतता गया यह त्रुटि और बढ़ती गयी क्योंकि समय के साथ 2400/2100 किलोकैलोरी के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री के समकालीन मूल्य और कीमत सूचकांक के समाकलन से प्राप्त मूल्य यानी ग़रीबी रेखा के बीच का अन्तर बढ़ता गया। यानी कि ग़रीबी रेखा स्थिर होने की बजाय नीचे गिरती चली गयी। चूंकि ग़रीबी रेखा ही नीचे कर दी गयी इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पिछले दो दशकों में प्रति व्यक्ति खाद्य उपलब्धता कम होने के बावजूद योजना आयोग के आँकड़ों में ग़रीबी में निरन्तर गिरावट देखने में आयी है। प्रख्यात अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने यह दिखाया है कि न्यूनतम किलोकैलोरी (2400/2100) के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री के वर्ष 2004-2005 में रहे मूल्य के आधार पर यदि ग़रीबी रेखा नापी जाये तो देश के 75 प्रतिशत से भी अधिक लोग ग़रीबी-रेखा के नीचे होंगे जबकि कीमत सूचकांकों के आधार पर तय की गयी ग़रीबी रेखा के अनुसार यह संख्या मात्र 37.5 प्रतिशत थी। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इसी सरकार की बनायी अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की रिपोर्ट के मुताबिक देश के 77 प्रतिशत लोग रोज़ाना सिर्फ़ 20 रुपये पर गुज़ारा करते हैं।

तेन्दुलकर समिति ने न्यूनतम कैलोरी मानक पर आधारित पुरानी पद्धति को खारिज करके भोजन और शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सेवाओं पर खर्चे के आधार पर ग़रीबी रेखा निर्धारित करने की बात कही। लेकिन कथनी में पुरानी पद्धति को खारिज करने के बावजूद तेन्दुलकर समिति ने अपने ही द्वारा दिये गये सिद्धान्त के अनुसार नये सिरे से ग़रीबी रेखा निर्धारित करने के बजाय पुरानी पद्धति से तैयार किये गये वर्ष 2004-2005 के शहरी क्षेत्रों के ग़रीबी के आँकड़ों को ही आधार मानकर नयी ग़रीबी रेखा बनायी जो पुरानी रेखा से थोड़ी ऊपर थी (37.5 प्रतिशत)। इसका कारण यह बताया गया कि ग़रीबी में परिवर्तन नापने के लिए पुराने आँकड़ों से निरन्तरता ज़रूरी है और चूँकि पुरानी पद्धति में गाँव की ग़रीबी रेखा के मुकाबले शहरी ग़रीबी रेखा कम विवादास्पद है इसलिए शहरी ग़रीबी रेखा को आधार बनाकर नयी ग़रीबी रेखा बनाना उचित है। इस जुगाड़ू तरीके का परिणाम यह हुआ कि 2004-2005 के ग़रीबी के नये आँकड़ों में प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन कैलोरी उपभोग की मात्रा 1800 किलोकैलोरी रह गयी यानी पुरानी पद्धति के कैलोरी मानक से भी कम। कैलोरी मानक में गिरावट को सही ठहराने के लिए समिति ने संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन की रिपोर्ट का हवाला दिया जिसके अनुसार भारत में एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए न्यूनतम 1800 किलोकैलोरी की ज़रूरत है। लेकिन समिति ने बड़ी ही चालाकी से यह बात दबा दी कि इस रिपोर्ट के कैलोरी मानक सम्बन्धित आँकड़े दरअसल दफ़्तरी काम करने वाले लोगों के लिए हैं न कि ग़रीबों और मज़दूरों के लिए जो अपेक्षतया अधिक शारीरिक श्रम करते हैं। योजना आयोग का यह दावा भी सरासर झूठा है कि 2004-05 और 2009-10 के बीच ग़रीबी कम हुई है क्योंकि 2009-10 की ग़रीबी रेखा में इस्तेमाल किये गये उपभोग के मानक 2004-05 के मुकाबले कहीं कम हैं। एक समान उपभोग के मानक को लेकर तुलना करने पर हम पाते हैं कि ग़रीबी वास्तव में बढ़ी है।

इस प्रकार तेंदुलकर समिति की सिफ़ारिशों ने भी ग़रीबी-रेखा के नाम पर इस देश की ग़रीब जनता के साथ पिछले 4 दशक से जारी क्रूर मज़ाक को जारी रखने का ही काम किया है। इनके आधार पर तैयार किये गये हास्यास्पद आँकड़ों से होने वाली फ़जीहत से बचने के लिए सरकार ने आनन-फ़ानन में ग़रीबी रेखा के निर्धारण की नयी पद्धति तय करने के लिए एक नयी समिति के गठन की घोषणा कर दी। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस तरह की समितियाँ जनता में झूठी उम्मीद जगाने के लिए बनायी जाती हैं जिससे कि जनता के बीच व्यवस्था के खुलेपन और संवेदनशीलता का भ्रम बरकरार रखा जा सके।

– आनन्द सिंह

अहलूवालिया और अय्यर जैसों की निगाह में मज़दूर इन्सान नहीं सिर्फ़ ढोर-डाँगर हैं!

देश के एक अरब 20 करोड़ लोगों के लिए योजना बनाने की ज़िम्मेदारी जिस संस्था के पास है उसके मुखिया मोण्टेक सिंह का कहना है कि 28 रुपया कोई छोटी राशि नहीं है और आज के ज़माने में भी 28 रुपये रोज़ में आराम से ज़िन्दगी काटी जा सकती है। ये अलग बात है कि योजना आयोग के 9 सदस्य और एक मंत्री मिलकर वेतन और भत्ते के रूप में हर महीने 15 लाख रुपये से भी ज़्यादा उठाते हैं।

टाइम्स ऑफ़ इंडिया अख़बार में लिखने वाले स्वामीनाथन अय्यर नाम के बुर्जुआ अर्थशास्त्री तो दो क़दम और आगे चले गये। अमीरों को और अमीर बनाने के नुस्खे बताने की कमाई खाने वाले इस शख़्स ने बेशर्मी की सारी हदें पार करते हुए लिखा है कि कठोर श्रम करने वाला एक मज़दूर (जिसे रोज़ाना 3000 कैलोरी ऊर्जा की ज़रूरत होती है) भी 20 रुपये किलो के हिसाब से गेहूँ और 45 रुपये किलो के हिसाब से चने की दाल ख़रीदकर 18.75 रुपये में 'दाल-रोटी' खा सकता है और इस तरह 28 रुपये रोज़ाना में मौज से जी सकता है। उसके ख़्याल से ग़रीब आदमी को तेल, नमक, हल्दी, प्याज़, लहसुन, किरासन या गैस आदि की ज़रूरत नहीं पड़ती। सब्ज़ी, फल या दूध के बारे में सोचना पाप है और दिन में एकाध कप चाय तो उसके लिए ऐयाशी होगी। सिर पर छत या फर्श पर एक मोटी-झोंटी चादर फ़िज़ूलखर्ची है और कपड़े-लत्ते के बारे में ग़रीबों को सोचना भी नहीं चाहिए!

इनकी अकल ठिकाने लगाने का एक आसान तरीका तो यह है कि इनके एअरकंडीशंड दफ़्तरों और गद्देदार कुर्सियों से घसीटकर इन्हें किसी भी मज़दूर बस्ती में ले आया जाये और कहा जाये कि दो दिन भी 28 रुपये रोज़ पर जीकर दिखाओ। मगर ये अकेले नहीं हैं। अमीरों से लेकर खाये-पिये मध्यवर्गीय लोगों तक एक बहुत बड़ी जमात है जो कमोबेश ऐसा ही सोचते हैं। इनकी निगाह में मज़दूर मानो इन्सान ही नहीं हैं। वे ढोर-डाँगर या बोलने वाली मशीनें भर हैं जिनका एक ही काम है – दिन-रात खटना और इनके लिए सुख के सारे साधन पैदा करना। ग़रीबों को शिक्षा, दवा-इलाज, मनोरंजन, बच्चों की खुशी, बुज़ुर्गों की सेवा, किसी भी चीज़ का हक़ नहीं है। ये लोग मज़दूरों को सभ्यता-संस्कृति और मनुष्यता की हर उस उपलब्धि से वंचित कर देना चाहते हैं जिसे इन्सानियत ने बड़ी मेहनत और हुनर से हासिल किया है।

स्वामीनाथन अय्यर वही शख़्स है जिसने अपने एक लेख में राशन की कालाबाज़ारी रोकने के लिए सरकार को सुझाव दिया था कि कोटे वाले राशन को पाउडर के रूप में बाँटा जाये और इतना बेस्वाद बनाकर बाँटा जाये कि अमीर लोग उसे खाना पसन्द ही न करें। इस तरह कालाबाज़ारी रुक जायेगी और इस बेस्वाद पाउडर का लाभ केवल वही लोग उठायेंगे जो वास्तव में भूख से मर रहे होंगे। क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है कि ये धनपशु ग़रीबों के बारे में क्या सोचते हैं?

● **जयपुष्प**

भुखमरी की भयानक तस्वीर

पूरी दुनिया में 82 करोड़ लोग रोज़ भूखे सोते हैं, और इनमें से चौथाई लोग केवल भारत के हैं। वैश्विक स्तर पर भुखमरी को मापने के पैमाने ग्लोबल हंगर इंडेक्स के अनुसार कुपोषण के मामले में दुनिया के सर्वाधिक प्रभावित देशों में से भारत 67वें स्थान पर है।

राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार (जो आख़िरी बार सात साल पहले हुआ था), भारत में 23 प्रतिशत शादीशुदा पुरुष, 52 प्रतिशत विवाहित महिलाएँ और 72 प्रतिशत नवजात शिशु ख़ून की कमी से पीड़ित हैं।

संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) के अनुसार भारत के 23 करोड़ लोग भरपेट भोजन नहीं कर पाते और कुपोषण के शिकार हैं। जबकि अन्तरराष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान (आई.एफ.पी.आर.आई.) के अनुसार, भारत के 21 प्रतिशत लोगों को पूरा पोषण नहीं मिलता, 5 वर्ष से कम आयु के 40 प्रतिशत बच्चों का वजन सामान्य से कम है और उनमें से 7 प्रतिशत बच्चे पाँच वर्ष की उम्र पूरी नहीं कर पाते। भारत को दुनिया के सर्वाधिक भूख के शिकार देशों की श्रेणी में रखा गया है, और सूडान, पाकिस्तान, श्रीलंका या नेपाल की स्थिति भी इस मामले में बेहतर है।

सेव द चिल्ड्रन नामक संस्था के हालिया सर्वेक्षण के अनुसार दुनिया भर के एक चौथाई बच्चों को इतना पोषण नहीं मिलता है जो उनके विकास के लिए जरूरी है, और **हर घण्टे दुनियाभर में तकरीबन 300 बच्चे कुपोषण के कारण मौत के मुँह में समा जाते हैं।** जिन देशों में यह सर्वेक्षण किया गया वहाँ चार में से एक परिवार को अपने खाने में कटौती करनी पड़ी है। हर छह में से एक बच्चा ज़िन्दा रहने के लिए अपने परिवार की मदद करने के इरादे से स्कूल छोड़ देता है। भारत में कुल बच्चों की जनसंख्या में से आधे कुपोषण के शिकार हैं और एक चौथाई बच्चों को अक्सर खाली पेट सोना पड़ता है। यही स्थिति बनी रही तो अगले पन्द्रह वर्षों में दुनियाभर में 45 करोड़ बच्चे अपनी उम्र की तुलना में कम लम्बाई और वज़न के होंगे, और उनकी वृद्धि रुकने का कारण कुपोषण और भुखमरी ही होगी।

दूसरी ओर, एक छोटी-सी आबादी बेहिसाब खा रही है और उससे भी ज़्यादा बर्बाद कर रही है। इसका अनुमान सिर्फ़ इस तथ्य से लगाइये कि केवल दिल्ली में मोटापा कम करने का सालाना कारोबार 200 करोड़ रुपये से ज़्यादा का है।

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराव, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये।

पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की क़ुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक से हमने दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की है, जो अगले कई अंकों में जारी रहेगी। **– सम्पादक**

पहली किश्त में हमने जाना कि 'पूँजी की ज़ालिम, बर्बर सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ना कैसे सीखा मज़दूरों ने'। मशीनें तोड़कर अपना गुस्सा निकालने से शुरू होकर मज़दूरों का संघर्ष चार्टिस्ट आन्दोलन तक पहुँचा। यह सर्वहारा वर्ग का पहला व्यापक आन्दोलन था और असफल होने के बावजूद यह एक प्रेरणादायी उदाहरण बन गया।!

मज़दूर वर्ग के आगे बढ़ते संघर्ष और उसकी मुक्ति की विचारधारा का जन्म

1. **1840 के दशक में** इंग्लैण्ड में मज़दूर आन्दोलन दो हिस्सों में बँटा हुआ था – चार्टिस्ट और समाजवादी। चार्टिस्ट लोग सैद्धान्तिक मामलों में पिछड़े हुए थे लेकिन वे सच्चे सर्वहारा थे और अपने वर्ग के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर समाजवादी ज़्यादा दूर तक देखने वाले थे और मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए व्यावहारिक तरीक़े प्रस्तावित करते थे लेकिन वे बुर्जुआ वर्ग से आते थे और इसलिए मज़दूरों के साथ पूरी तरह घुलमिल नहीं पाते थे। जैसा कि फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है, चार्टिज़्म और समाजवाद की एकता मज़दूर आन्दोलन का अगला क़दम था और इसकी शुरुआत उसी समय हो चुकी थी। मज़दूर अपनी लड़ाई में विचारों के महत्व को समझने लगे थे और ट्रेड यूनियनें, चार्टिस्ट और समाजवादी, सभी अलग-अलग या मिलकर मज़दूरों के लिए अनगिनत स्कूल, पुस्तकालय, रीडिंग-रूम आदि चलाते थे। पूँजीवादी सरकारें इन्हें ख़तरनाक समझती थीं और अक्सर इन्हें बन्द भी कर दिया जाता था। लेकिन मज़दूरों के बीच धीरे-धीरे बढ़ती राजनीतिक चेतना को फैलने से रोका नहीं जा सकता था।

1848 में लन्दन में एक चौराहे पर मज़दूरों की "साहित्यिक एवं वैज्ञानिक संस्था" की बैठक

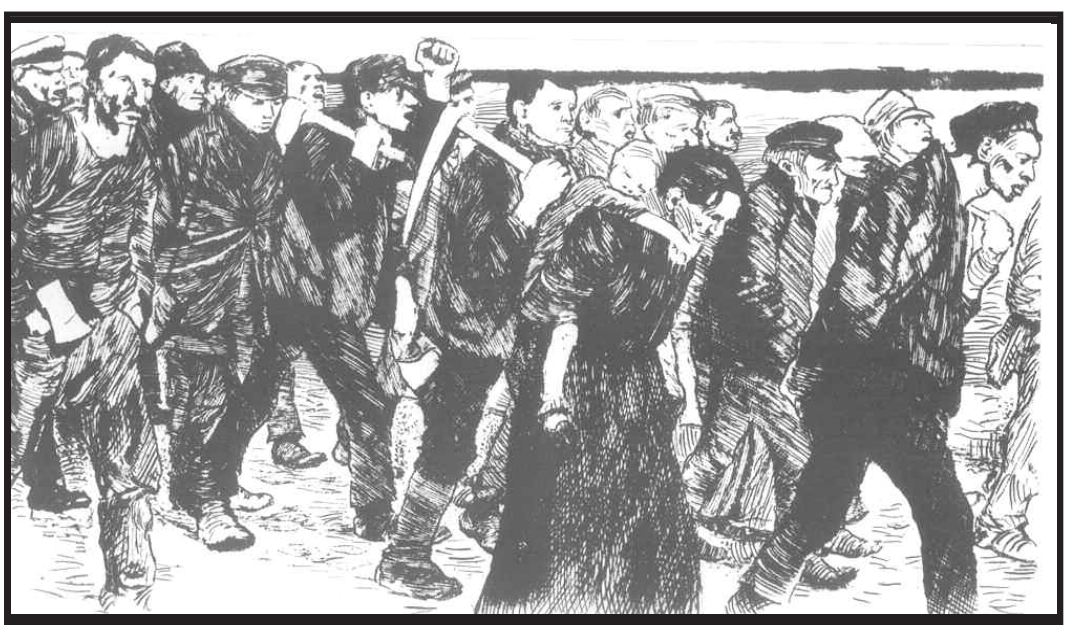

1844 में जर्मनी में कपड़ा उद्योग के प्रमुख केन्द्र सिलेसिया प्रान्त में बढ़ती ग़रीबी और भुखमरी से तंग आकर हज़ारों बुनकर मज़दूरों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने शहर पर कब्ज़ा कर लिया और उन्हें कुचलने के लिए सेना को बुलाना पड़ा। 11 मज़दूरों को गोली से उड़ाने और सैकड़ों को जेल और कोड़ों की सज़ाएँ दी गयीं। यह विद्रोह मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में बहुत महत्व रखता है क्योंकि सिलेसियाई बुनकरों की माँगों और नारों तथा उनकी कार्रवाइयों से पता चलता था कि समाज में मज़दूरों की स्थिति और उनकी भूमिका के बारे में उनकी समझ तेज़ी से बढ़ रही थी। ऊपर के चित्र में अपनी माँगें पेश करने के लिए जाते हुए बुनकरों को दिखाया गया है। इसे जर्मनी की प्रसिद्ध चित्रकार और मज़दूर आन्दोलन की प्रबल समर्थक कैथी कॉलवित्ज़ ने बनाया था।

2. **मज़दूर आन्दोलन** की एक मज़बूत धारा बनने के काफ़ी पहले ही समाजवाद का विचार पैदा हो चुका था। लेकिन इसे "काल्पनिक" समाजवाद कहा गया क्योंकि इसके पीछे कोई वैज्ञानिक सोच और रास्ते की सही समझ नहीं थी। उस दौर के बहुत-से प्रगतिशील लोगों को उम्मीद थी कि राजाओं-जागीरदारों-सामन्तों के उत्पीड़न का अन्त होगा तो विवेक, स्वतन्त्रता और न्याय का राज क़ायम होगा। लेकिन वास्तव में सामन्ती अत्याचार और ज़ोर-ज़बर्दस्ती का स्थान निर्मम पूँजीवादी शोषण और धन-सम्पत्ति के शासन ने ले लिया। पूँजीवादी विकास के उस शुरुआती दौर में ही कई ऐसे विचारक और दूरदर्शी लोग थे जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयों को समझ लिया था और एक ऐसी व्यवस्था के लिए आवाज़ उठायी थी जो सबके लिए इंसाफ़ और भाईचारे पर टिकी होगी।

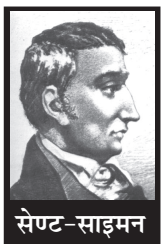

सेण्ट-साइमन

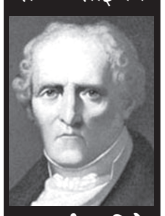

चार्ल्स फूरिये

रॉबर्ट ओवेन

इन महान चिन्तकों में सबसे ऊँचा स्थान फ्रांस के सेण्ट-साइमन और इंग्लैण्ड के चार्ल्स फूरिये तथा रॉबर्ट ओवेन का है। इन लोगों ने पूँजीवादी दुनिया कठोर और सही आलोचना की और इसके स्थान पर भविष्य के न्यापूर्ण समाज की तस्वीर पेश की। सबसे बढ़कर, उन्होंने आम लोगों को पूँजीवादी दासता की बेड़ियों से अपने को मुक्त करने के लिए ललकारा। लेकिन वे यह नहीं समझ पाये कि पूँजीवाद को हटाकर नया समाज लाने का सही रास्ता क्या होगा। उन्होंने जो कुछ सुझाया वह भोलेपन से भरा हुआ और अव्यावहारिक सपना था। अभी इन लोगों को यह विश्वास नहीं था कि मज़दूर वर्ग ही वह सामाजिक शक्ति है जो शोषण की ज़ंजीरों को तोड़कर खुद को भी मुक्त करेगा और पूरी मानवजाति को भी मुक्ति दिलायेगा। वे सोचते थे कि समाज के प्रबुद्ध लोगों की यह ज़िम्मेदारी है कि वे मज़दूरों का इस दुर्दशा से उद्धार करें। लेकिन इन महान चिन्तकों के काम के बिना मज़दूरों की मुक्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त भी पैदा नहीं हो सकता था।

रॉबर्ट ओवेन द्वारा स्थापित बस्ती 'न्यू लेनार्क' - यहाँ एक विशाल सूती मिल थी जिसमें काम करने वाले 2500 मज़दूर और उनके परिवार रहते थे जिन्हें लेकर ओवेन ने समाजवाद के अपने आदर्श को लागू करने के प्रयोग किये।

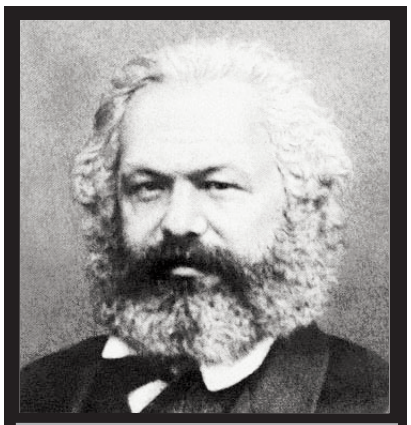

कार्ल मार्क्स (जन्म 5 मई, 1818; निधन 14 मार्च 1883) ने नौजवानी से ही अपना पूरा जीवन मज़दूरों की मुक्ति की लड़ाई को समर्पित कर दिया। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण उन्हें 25 साल की उम्र में ही अपना देश छोड़ना पड़ा और उनके शेष जीवन का ज़्यादा समय पराये मुल्कों में ही बीता। हर देश की पूँजीवादी सरकारें उनसे भय खाती थीं लेकिन सारी दुनिया के मेहनतकशों से उन्हें अपार प्यार और सम्मान मिला।

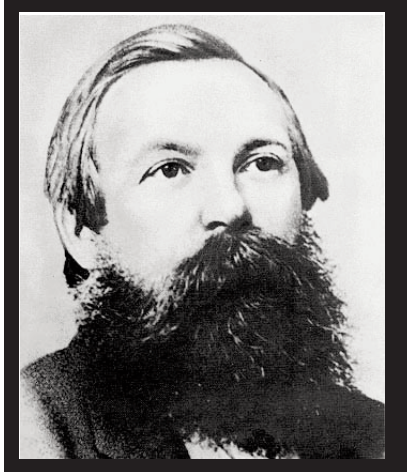

फ्रेडरिक एंगेल्स (जन्म 28 नवम्बर, 1820; निधन 5 अगस्त 1895) एक कारख़ानेदार के बेटे थे जिन्होंने अपने पिता की इच्छाओं का पालन करने और अपनी शक्ति पैसा कमाने में लगाने के बजाय अपनी सारी ऊर्जा क्रान्तिकारी संघर्ष को समर्पित कर दी। मार्क्स और एंगेल्स की मुलाकात 1844 में हुई और उसके बाद सर्वहारा के इन दो महान नेताओं की ऐसी अटूट मित्रता की शुरुआत हुई जो इतिहास की एक मिसाल बन गयी है। दोनों ने अपनी सारी प्रतिभा, अपनी ऊर्जा की एक-एक बूँद पूँजी की दासता से मानवता की मुक्ति के लक्ष्य को आगे बढ़ाने में लगा दी।

3. जब मज़दूर आन्दोलन ने काफ़ी अनुभव हासिल कर लिया और मज़दूर वर्ग ज़्यादा अच्छी तरह संगठित हो गया तभी एक ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त सामने आया जो मानवता को मुक्ति की सही राह पर ले जा सकता था। इस सिद्धान्त ने दिखाया कि अब तक का सामाजिक विकास किन मंज़िलों से होकर हुआ है और समाज विकास की सबसे ऊँची मंज़िल कम्युनिज़्म तक जाने का रास्ता क्या होगा। इस सिद्धान्त के सृजक थे मज़दूर वर्ग के महान नेता कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स। जर्मनी में जन्मे इन दो अद्‌भुत प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने नौजवानी की शुरुआत में ही अपने आपको तन-मन से क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए समर्पित कर दिया। मार्क्स और एंगेल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और सर्वहारा के संघर्ष की कार्यनीति बनायी। उन्होंने कहा, "सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा और कुछ नहीं है।" मार्क्सवाद ने दिखाया कि सर्वहारा सबसे क्रान्तिकारी वर्ग और यह निजी मालिकाने की समूची व्यवस्था को नष्ट करने के संघर्ष में सारे मेहनतकश अवाम की अगुवाई करेगा। लेकिन यह नया सिद्धान्त दुनिया को बदलने वाली ज़बर्दस्त ताक़त तभी बन सकता था जब वह जनता के दिलो-दिमाग़ पर छा जाये।

1844 में विभिन्न समाजवादी मण्डलियों के साथ विचार-विमर्श करते हुए मार्क्स और एंगेल्स

4. **मार्क्स और एंगेल्स से पहले** मज़दूर आन्दोलन और समाजवाद का विकास अलग-अलग रास्तों से हो रहा था। 1847 में मार्क्स और एंगेल्स के सक्रिय सहयोग से पहले अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा संगठन – कम्युनिस्ट लीग – की स्थापना की गयी। अब एक नया नारा दिया गया – "दुनिया के मज़दूरो, एक हो!" इसी लीग की तरफ़ से मार्क्स-एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' तैयार किया जो फ़रवरी 1848 में छपकर आया। इस छोटी-सी पुस्तिका ने पिछले 160 वर्षों में दुनिया को बदल डाला है। आज दुनिया की लगभग हर भाषा में इसकी करोड़ों-करोड़ प्रतियाँ छप चुकी हैं। लेकिन जब यह पहले पहल छपा था, तभी "कम्युनिस्ट घोषणापत्र" ने ज़बर्दस्त असर पैदा किया। इसके बाद मज़दूर आन्दोलन और समाजवाद दो अलग-अलग धाराएँ नहीं रह गये और आपस में मिलकर एक अपराजेय शक्ति बन गये।

'कम्युनिस्ट लीग' की केन्द्रीय समिति की बैठक, सबसे दायें बैठे हुए कार्ल मार्क्स।

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के पहले संस्करण का आवरण पृष्ठ

5. उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक में कई जनविद्रोहों को सख्ती से कुचल दिये जाने के बाद यूरोप में सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रिया और दमनकारी पुलिस शासन का दौर आ गया। मगर दमन के कारण लम्बे से दबी पड़ी सामाजिक मुक्ति की शक्तियाँ लगातार मज़बूत होती जा रही थीं। 1848 में ज्वालामुखी फूट पड़ा। सारा यूरोप क्रान्तिकारी उथल-पुथल की चपेट में आ गया जिसकी अगली कतारों में हर जगह मज़दूर वर्ग था। क्रान्ति का पहला विस्फोट सिसिली में हुआ लेकिन एक-एक करके यह क्रान्तिकारी ज्वार फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, इटली, स्पेन, हंगरी, पोलैण्ड आदि से होते हुए सारे यूरोप में फैल गया और घृणित निरंकुश राजनीतिक व्यवस्थाओं, सम्राटों और मंत्रियों को अपने साथ बहा ले गया।

लेकिन शानदार बहादुराना संघर्ष के बावजूद मेहनतकश जनता को आख़िरकार हार का मुँह देखना पड़ा। मज़दूरों की बढ़ती ताकत और लड़ाकू चेतना से घबराये पूँजीपति वर्ग ने हर ग़द्दारी और धोखाधड़ी की और क्रान्तिकारी आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने का काम किया। दूसरी तरफ, सर्वहारा वर्ग की कमज़ोरी का मूल कारण यह था कि ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी जोश के बावजूद न तो वह अच्छी तरह संगठित था और न ही उसे अपने ऐतिहासिक कार्यभार और लक्ष्य की सही समझ थी। 1848 की क्रान्तियों का अन्त पराजय में हुआ लेकिन उन्होंने यूरोप के आने वाले इतिहास को बदलकर रख दिया। साथ ही इन क्रान्तियों ने यूरोप के सर्वहारा को राजनीतिक संघर्ष का अमूल्य अनुभव प्रदान किया। उन्होंने दिखा दिया कि एक बड़े और ताक़तवर सामाजिक वर्ग के रूप में सर्वहारा के सामने आने के बाद अब बुर्जुआ वर्ग ज़रा भी प्रगतिशील नहीं रह गया है और एक प्रतिक्रान्तिकारी शक्ति के रूप में बदल चुका है।

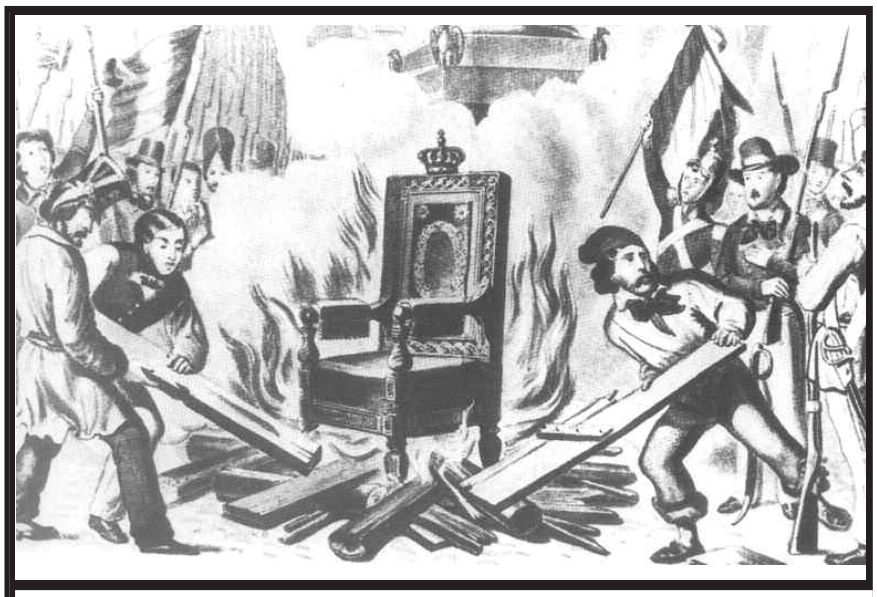

फ्रांस में फरवरी 1848 में क्रान्ति की शुरुआत होते ही जनता ने राजमहल पर धावा बोल दिया जहाँ से राजा पहले ही भाग खड़ा हुआ था। लोग राजसिंहासन को घसीटकर सड़कों पर ले आये और उसे आग के हवाले कर दिया।

1848 की क्रान्तियों के दौरान लुटेरे और अत्याचारी शासक को जनता ने लात मारकर किनारे कर दिया। उस समय का एक प्रसिद्ध कार्टून। उन्हीं दिनों विख्यात रूसी क्रान्तिकारी लेखक **अलेक्सान्द्र हर्ज़न** ने लिखा था: **"यह अद्भुत समय है। अखबार उठाते हुए मेरे हाथ कँपकँपाने लगते हैं – हर दिन कोई न कोई अप्रत्याशित बात होती रहती है, बिजली का नया गर्जन सुनायी पड़ता है। या तो मानव जाति का नया उज्ज्वल पुनर्जन्म होने वाला है या क़यामत का दिन आ रहा है। लोगों के दिलों में नयी ताक़त आ गयी है, पुरानी आशाएँ फिर जाग उठी हैं और एक ऐसा साहस फिर हावी हो गया है जो कि सभी कुछ कर सकता है।"**

पेरिस में जून विद्रोह के समय सड़कों पर मोर्चा लेते हुए मज़दूर। इन घटनाओं के साक्षी रहे **मार्क्स** ने लिखा है: "मज़दूरों के पास और कोई विकल्प नहीं था – वे या तो भूखों मरते या संघर्ष करते। उन्होंने 22 जून के प्रचण्ड विप्लव से जवाब दिया, जो आधुनिक समाज को विभाजित करने वाले दोनों वर्गों के बीच होने वाला पहला बड़ा युद्ध था। यह बुर्जुआ व्यवस्था के संरक्षण या संहार का युद्ध था।" पूँजीपतियों की सरकार ने बर्बर दमन किया। सड़कों पर लड़ाई के दौरान 500 मज़दूर मारे गये थे। लेकिन उसके बाद के कुछ महीनों में 11 हज़ार मज़दूरों को गोली से उड़ा दिया गया।

6.

मज़दूरों ने अपने संगठन स्थापित करने शुरू कर दिये। हड़तालें अधिकाधिक आम होती गयीं। समाजवादी मण्डलियों और दलों की स्थापना होने लगी और मज़दूरों ने अब अपनी समस्याओं को अपने ही कारख़ाने, शहर या देश के तंग नज़रिये से देखना बन्द कर दिया। उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक तक मज़दूर आन्दोलन अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी शक्तियों को एकजुट करने के लिए तैयार हो चुका था। अब मेहनतकश अवाम को एक नये अन्तरराष्ट्रीय संगठन में एकताबद्ध करने का समय आ गया था।

28 सितम्बर, 1864 को लन्दन में हुई एक सभा में, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा कई अन्य देशों के मज़दूरों ने भाग लिया था, अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संघ (इण्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसिएशन) की स्थापना की गयी, जो इतिहास में पहले इण्टरनेशनल के नाम से प्रसिद्ध है। कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स आन्दोलन के मुख्य राजनीतिक और वैचारिक नेता थे। यूरोप के विभिन्न देशों और अमेरिका के अनेक ट्रेड यूनियन, मज़दूर सोसायटियाँ, श्रमिक शिक्षण मण्डल तथा अन्य मज़दूर संगठन पहले इण्टरनेशनल में शामिल हो गये। इन सभी देशों में अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संघ की राष्ट्रीय शाखाएँ स्थापित हो गयीं और थोड़े ही समय में इण्टरनेशनल एक व्यापक अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा संगठन बन गया। उस समय भारत में अभी कारख़ाने लगने शुरू ही हुए थे और मज़दूर बहुत कम संख्या में तथा बिखरे हुए थे। लेकिन करीब 20 वर्ष बाद, जब यहाँ बहुत से उद्योग लग चुके थे जिनमें बड़ी संख्या में मज़दूर काम करने लगे थे, तो इण्टरनेशनल ने अपने दो प्रतिनिधियों को भारत के मज़दूरों के बीच संगठित होने की चेतना फैलाने के लिए कलकत्ता भेजा था।

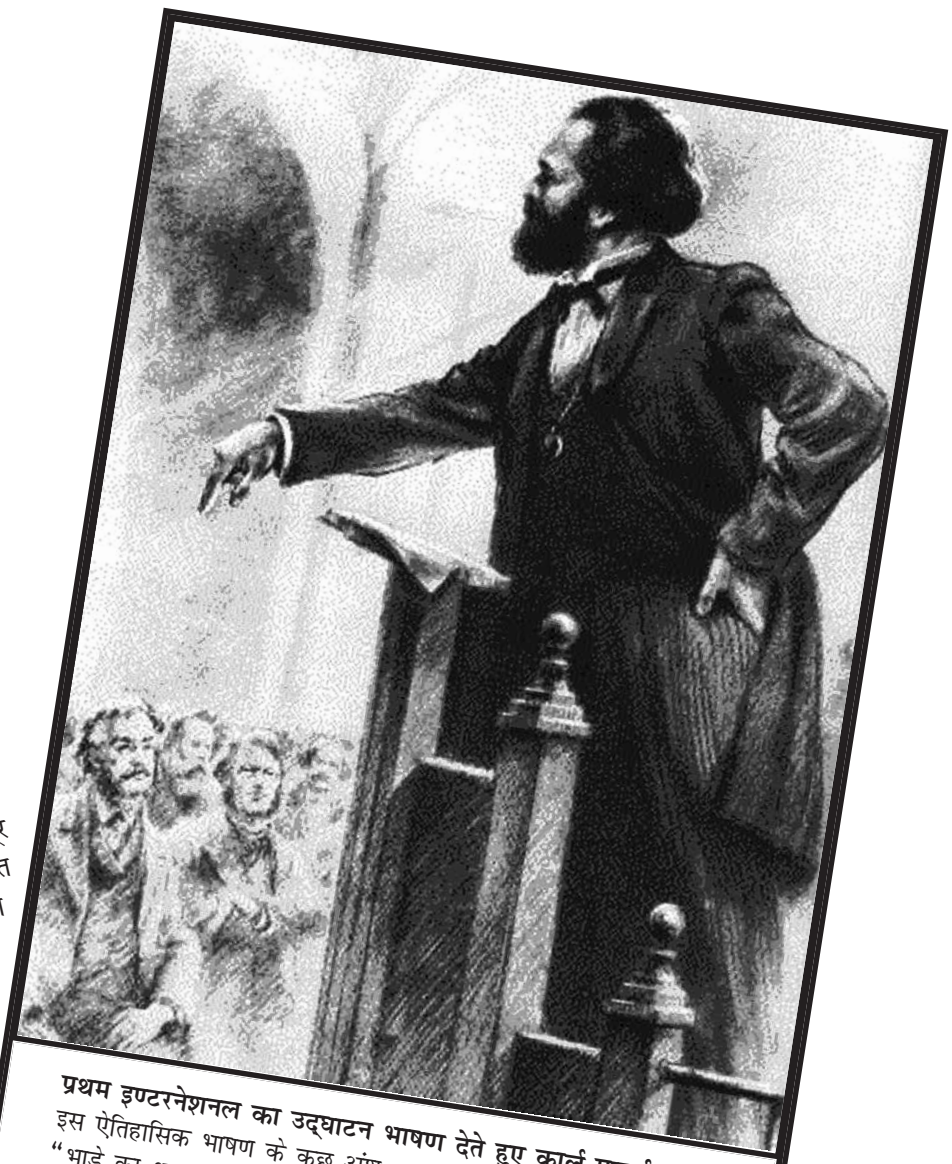

प्रथम इण्टरनेशनल का उद्घाटन भाषण देते हुए कार्ल मार्क्स

इस ऐतिहासिक भाषण के कुछ अंश:

"भाड़े का श्रम अस्थायी और निचली कोटि का रूप है जिसे ऐसे सहयोगपूर्ण श्रम के आगे खत्म हो जाना है जो इच्छापूर्वक, तत्पर मस्तिष्क और प्रसन्न हृदय के साथ किया जायेगा..."

"बड़े पैमाने पर, और आधुनिक विज्ञान के अनुसार चलने वाला उत्पादन मालिकों के वर्ग की मौजूदगी के बिना भी चलाया जा सकता है..."

"उनके (मज़दूरों के–सं.) पास सफलता का एक तत्व है – उनकी संख्या। लेकिन संख्या तभी कारगर होती है जब वह आपस में मिलकर एकताबद्ध हो और ज्ञान उसका नेतृत्व करता हो..."

"इसलिए राजनीतिक सत्ता पर कब्ज़ा करना मेहनतकश वर्गों का महान लक्ष्य बन गया है।"

इस भाषण का अन्त इन शब्दों से हुआ: "दुनिया के मज़दूरो, एक हो।"

कम्यून ज़िन्दाबाद!

अगले अंक से कम्यून की स्थापना और उसके अमर सिद्धान्तों के जन्म की कहानी...

माँगपत्रक शिक्षणमाला–1 (दूसरी किश्त)

ग्रामीण व खेतिहर मज़दूरों की प्रमुख माँगें और उनकी अपनी यूनियन की ज़रूरत

मज़दूर माँगपत्रक–2011 की पहली सात माँगों – न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे कम करने, ठेका के ख़ात्मे, काम की बेहतर तथा उचित स्थितियों की माँग, कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा, प्रवासी मज़दूरों के हितों की सुरक्षा और स्त्री मज़दूरों की माँगों – के बारे में विस्तार से जानने के लिए 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक ज़रूर पढ़ें – सम्पादक

पिछले अंक में हमने ग्रामीण मज़दूरों की दूरगामी वर्ग माँग के बारे में बताया था और साथ ही यह भी बताया था कि दूरगामी राजनीतिक माँगों के लिए संघर्ष के साथ ही ग्रामीण सर्वहारा वर्ग को अपनी तात्कालिक आर्थिक व राजनीतिक माँगों के लिए भी संघर्ष करना पड़ेगा। ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग की दूरगामी माँग ज़मीन के किसी छोटे-से टुकड़े का मालिकाना नहीं, बल्कि साझी खेती की समाजवादी व्यवस्था ही हो सकती है। ग्रामीण सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी कुल ग्रामीण आबादी का करीब 80 फीसदी है और वह इस बात को अपने अनुभव से समझती है कि दो-ढाई बीघा ज़मीन उसे एक इंसानी जीवन नहीं दे सकती है। वास्तव में, समूचे ग्रामीण भारत के उत्पादन के लिए यह ग्रामीण मज़दूर और ग़रीब किसान आबादी सामूहिक रूप से उत्तरदायी है और ऐसी व्यवस्था ही सबसे न्यायसंगत और तर्कसंगत हो सकती है, जो समूचे ग्रामीण संसाधनों को इस ग़रीब ग्रामीण आबादी के सामूहिक मालिकाने के तहत रख दे। उत्पादन से लेकर वितरण तक और राजनीतिक निर्णय लेने तक समूचे अधिकार ग्रामीण सर्वहारा आबादी और अर्द्धसर्वहारा आबादी की क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य पंचायतों के हाथों में होने चाहिए। जब तक मज़दूर इंक़लाब के जरिये पूरे देश में आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को मज़दूरों और ग़रीब मेहनतकश आबादी की क्रान्तिकारी लोकस्वराज्य पंचायतों के हाथों नहीं सौंप दिया जाता तब तक ग्रामीण मज़दूर और अर्द्धमज़दूर आबादी की पूँजीवादी सरकार से कुछ माँगें बनती हैं।

हमने यह भी देखा था कि मौजूदा व्यवस्था में ग्रामीण मज़दूरों के लिए श्रम क़ानूनों का कोई एकरूप ढाँचा देश में मौजूद नहीं है। राष्ट्रीय ग्रामीण श्रम आयोग ने सरकार के सामने यह सिफ़ारिश रखी थी कि सरकार क़ानूनी ढाँचे और संविधान में ज़रूरी संशोधन करके एक ऐसा क़ानूनी ढाँचा खड़ा करे, जो ग्रामीण मज़दूरों के लिए आठ घण्टे के काम के दिन, न्यूनतम मज़दूरी, डबल रेट से ओवरटाइम, और ई.एस.आई. और पी. एफ. जैसी सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ सुनिश्चित करे। लेकिन इन सिफ़ारिशों के बाद कई वर्ष बीत जाने के बाद भी तमाम सरकारें आईं-गईं, लेकिन इन्हें लागू नहीं किया गया। केन्द्र सरकार की उदासीनता के अलावा इसका एक कारण यह भी था तमाम राज्यों में राज्य सरकारें ऐसे क़ानून के ख़िलाफ़ थीं। इसका कारण यह था कि कई राज्यों में क्षेत्रीय पूँजीवादी चुनावी दलों की सरकारें हैं, जो कि वास्तव में धनी किसानों, कुलकों और फार्मरों की नुमाइन्दगी करती हैं। ये पार्टियाँ अपने वोट आधार को नहीं खिसकने देना चाहतीं और धनी किसानों का ऐसा क़ानून न बनने देने के लिए उन पर पर्याप्त दबाव है। गठबन्धन सरकारों के ज़माने में कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार हो या उसके पहले की भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार हो, किसी में यह हिम्मत नहीं थी कि ऐसे किसी क़ानून को बनाये और लागू करे। ऐसे में साफ़ है कि ग्रामीण मज़दूरों के हक़ों को सुनिश्चित करने वाला कोई भी क़ानून जनहित याचिकाएँ दायर करने, क़ानूनी सक्रियता करने, सरकारी आयोगों की सिफ़ारिशों और अर्ज़ियों और आवेदनों से नहीं बनने वाला। ऐसा कोई भी क़ानून तभी बन सकता है, जब ग्रामीण मज़दूर अपने औद्योगिक मज़दूर भाइयों की मदद से अपनी ग्रामीण मज़दूर यूनियन बनाएँ और इन माँगों के लिए जुझारू और संगठित संघर्ष से सरकार पर दबाव डालें। ग्रामीण मज़दूरों का वर्ग देश का सबसे बड़ा वर्ग है। वह अगर संगठित हो जाए तो ऐसा दबाव डाला जा सकता है। हालाँकि यह एक मुश्किल और लम्बा काम है, लेकिन सर्वहारा क्रान्तिकारियों को अभी से यह समझना होगा कि ऐसी किसी ग्रामीण मज़दूर यूनियन की सरकार से क्या माँगें होंगी। **'भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक'** ऐसी प्रातिनिधिक माँगों को स्पष्ट करता है।

'माँगपत्रक' की सबसे **पहली माँग** यह है कि सरकार 'खेतिहर मज़दूरों और ग्रामीण श्रमिकों पर राष्ट्रीय आयोग' की सिफ़ारिशों को लागू करे। इस आयोग ने सरकार से यह सिफ़ारिश की थी कि सरकार ग्रामीण मज़दूरों के लिए ऐसे क़ानून सूत्रबद्ध करे जो ऐसे श्रमिक अधिकारों को लागू करें, जो कि संवैधानिक तौर पर उनके लिए मानवाधिकारों का दर्ज़ा रखते हैं। मिसाल के तौर पर, दो सबसे अहम माँगें हैं आठ घण्टे के कार्यदिवस और न्यूनतम मज़दूरी के भुगतान का अधिकार। संवैधानिक तौर पर, आठ घण्टे के कार्यदिवस का अधिकार एक मानव जैसे जीवन का अधिकार है। मज़दूर वर्ग में राजनीतिक चेतना की दुनिया में प्रवेश करते ही सबसे पहले जो नारा उठाया था वह था **'आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम, आठ घण्टे मनोरंजन'**। एक लम्बे संघर्ष के बाद कम-से-कम क़ानूनी तौर पर मज़दूरों ने इस हक़ को हासिल किया और क़ानूनी तौर पर इंसानी ज़िन्दगी पर अपने हक़ पर अपना दावा मज़बूत किया। यह बात दीगर है कि आजयह हक़ औद्योगिक मज़दूरों तक के लिए लागू नहीं होता, जिनके लिए इसे सुनिश्चित करने के क़ानून भी मौजूद हैं। लेकिन फिर भी संगठित होकर औद्योगिक मज़दूर इसके लिए लड़ सकते हैं। लेकिन खेतिहर और ग्रामीण मज़दूर तो इसके लिए कोई क़ानूनी लड़ाई भी नहीं लड़ सकते क्योंकि उनके लिए ऐसा कोई क़ानून फिलहाल मौजूद ही नहीं है। लिहाज़ा, ग्रामीण मज़दूरों की पहली लड़ाई तो आठ घण्टे के कार्यदिवस को बाध्यताकारी बनाने वाले क़ानून बनवाने की है। यही बात न्यूनतम मज़दूरी पर भी लागू होती है। भारत का संविधान कहता है कि अगर किसी श्रमिक को तय न्यूनतम मज़दूरी नहीं दी जाती तो यह बेगार कराने के समान ही अपराध माना जाएगा। हम सभी जानते हैं कि खेतिहर और ग्रामीण मज़दूर अधिकांश मौकों पर न्यूनतम मज़दूरी से बेहद कम मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर होते हैं। कई बार उन्हें मिलने वाली मज़दूरी उन्हें ज़िन्दा रखने के लिए भी मुश्किल से ही काफ़ी होती है। खेती के सेक्टर में जारी मन्दी के समय तो उनके लिए हालात और भी भयंकर हो गये हैं। आज देश के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी खेती में मन्दी के कारण मंझोले और धनी किसानों की दिक्कतों पर तो काफ़ी टेसू बहाते हैं, लेकिन उन खेतिहर और ग्रामीण मज़दूरों के बारे में कम ही शब्द ख़र्च करते हैं, जो तेज़ी और मन्दी दोनों के ही समय में ज़्यादातर भुखमरी और कुपोषण में जीते रहते हैं। यह एक त्रासद स्थिति है और भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में नरोदवाद की गहरी पकड़ की ओर इशारा करता है। बहरहाल, ग्रामीण और खेतिहर मज़दूरों के लिए जो दूसरी सबसे अहम माँग है वह है न्यूनतम मज़दूरी के क़ानून की माँग। अभी ये मज़दूर पूरी तरह बाज़ार की शक्तियों और धनी और मँझोले किसानों के भरोसे होते हैं। वे पूर्णतया अरक्षित हैं और उनके हितों की रक्षा के लिए कोई भी क़ानून मौजूद नहीं है।

इन दोनों सबसे बुनियादी माँगों के बाद साप्ताहिक छुट्टी, काम करने की बेहतर परिस्थितियों और सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की माँग आती है। 'खेतिहर मज़दूरों और ग्रामीण मज़दूरों पर राष्ट्रीय आयोग' ने वर्षों पहले इन्हीं क़ानूनों के लिए सिफ़ारिशें सरकार के सामने रखी थीं और इसलिए आज ग्रामीण मज़दूरों के लिए पहली तात्कालिक माँग इस आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करवाने की बनती है।

इसी माँग से जुड़ी **दूसरी माँग** यह है कि चूँकि तमाम राज्य सरकारें धनी किसानों-कुलकों-फार्मरों की शक्तिशाली लॉबी के दबाव में ऐसे किसी भी क़ानून के विरोध में हैं, इसलिए सरकार जल्द से जल्द संसद में ग्रामीण मज़दूरों सम्बन्धी व्यापक क़ानून का प्रस्ताव पेश कर उसे पास कराये और साथ ही संविधान में ऐसे आवश्यक संशोधन करे जो सभी राज्य सरकारों के लिए ग्रामीण मज़दूरों के लिए बनाये गये क़ानूनों को लागू करने को अनिवार्य बना दे और इसके उल्लंघन पर कठोर दण्ड की व्यवस्था हो। स्पष्ट है कि अगर भारत के संघीय ढाँचे की दुहाई देकर अगर ऐसे क़ानूनों को राज्य सरकारों की इच्छाशक्ति और स्वायत्तता पर छोड़ दिया गया तो इस क़ानून का भी वही हश्र होगा जो 'फ्लोर स्तर न्यूनतम मज़दूरी' के प्रावधान के साथ हुआ है। हर राज्य आज न्यूनतम मज़दूरी के पुराने पड़ चुके मानकों में से भी निम्नतम सम्भव स्तर की न्यूनतम मज़दूरी को लागू करना चाहता है। दिल्ली जैसे कुछ धनी राज्यों को छोड़ दिया जाय तो न्यूनतम मज़दूरी के तौर पर कई राज्यों में 100 रुपये प्रतिदिन भी नहीं मिलते! ऐसे में, ग्रामीण मज़दूरों के लिए बनाये जाने वाले भावी क़ानून को सभी राज्यों के लिए लागू करने को बाध्यताकारी बनाया जाना चाहिए, अन्यथा उसका कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

ये क़ानून लागू हो सकें इसके लिए इसके कार्यान्वयन के लिए सरकार को समस्त इंतज़ाम करने चाहिए, अन्यथा क़ानून बन जाने के बावजूद मज़दूरों को कुछ भी हासिल नहीं होगा। इसी से जुड़ी हुई ग्रामीण मज़दूरों की **तीसरी माँग** है। 'भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक' यह माँग करता है ग्रामीण मज़दूरों के लिए पंजीकरण, न्यूनतम मज़दूरी, पेंशन, पी.एफ़, ई.एस.आई. जैसी सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को लागू करने के लिए सरकार को श्रम विभाग में केन्द्र और राज्यों के स्तर पर अलग से सेल (प्रकोष्ठ) बनाने चाहिए, जिनका काम विशिष्ट रूप से ग्रामीण मज़दूरों और खेतिहर मज़दूरों के हक़ों के लिए बने क़ानूनों के कार्यान्वयन को देखना हो। मौजूदा श्रम विभाग के पास इतने भी संसाधन नहीं हैं कि वह औद्योगिक मज़दूरों के लिए बने क़ानूनों के कार्यान्वयन के लिए नियमित जाँच और प्रेक्षण कर सके। ऐसे में, निश्चित तौर पर ग्रामीण मज़दूरों के लिए बनने वाले क़ानूनों के कार्यान्यवन के लिए श्रम विभाग को अलग से विशिष्ट कर्मचारी और अधिकारियों की आवश्यकता होगी। इसलिए अलग से विशेष प्रकोष्ठ बनाये जाने चाहिए, जिनकी विशिष्ट ज़िम्मेदारी ही यही हो। इसके अतिरिक्त, ये प्रकोष्ठ अपने कार्य को सुचारू तरीके से करते हुए ग्रामीण मज़दूरों के लिए बने क़ानूनों के कार्यान्वयन के काम को कर रहे हैं, इसकी निगरानी के लिए और साथ ही किसी विवाद की सूरत में मध्यस्थता और वार्ता के जरिये उसे सुलटाने के लिए सरकार को अलग से विभाग बनाना चाहिए। इन सारे इंतज़ामों के बिना, अगर ग्रामीण मज़दूरों के हक़ों को सुनिश्चित करने वाला कोई क़ानून बन भी जाये तो वह लागू नहीं होगा, और मज़दूरों को कुछ भी हासिल नहीं होगा।

चौथी माँग इसी माँग से जुड़ी हुई है और वह यह है कि ग्रामीण मज़दूरों के अधिकार उन्हें मिलें यह सुनिश्चित करने के लिए सरकार को जिले से लेकर ब्लॉक स्तर तक इंस्पेक्टोरेट का गठन करना चाहिए। इस इंस्पेक्टोरेट में ग्रामीण मज़दूरों की यूनियन/संगठन के प्रतिनिधियों, भूस्वामियों, ग्रामीण उद्योगों के प्रतिनिधियों के अलावा नागरिक व जनवादी अधिकारों लिए काम करने वाले कार्यकर्ता भी शामिल हों। ये इंस्पेक्टोरेट श्रम क़ानूनों के कार्यान्वयन कि नियमित तौर पर निगरानी करेंगे और नियमित तौर पर रिपोर्ट देंगे। यदि कहीं कोई उल्लंघन हो रहा होगा तो उप श्रमायुक्त के स्तर कोई अधिकारी इसकी जाँच करेगा और दोषियों पर कार्रवाई करेगा। ऐसी व्यवस्था लागू करने से क़ानून के कार्यान्वयन की पूरी प्रक्रिया सरकार और उसकी नौकरशाही का एकाधिकार नहीं रह जाएगी, बल्कि उसका जनवादीकरण हो जाएगा और जनता की उस पर निगरानी स्थापित हो जाएगी। ऐसे में, सरकारी एजेंसियों द्वारा जवाबदेही को सुनिश्चित किया जा सकेगा और अधिकारियों की निरंकुशता को कम किया जा सकेगा। यह पूरे सरकारी श्रम विभाग के जनवादीकरण से ही जुड़ी हुई माँग है।

पाँचवीं माँग ग्रामीण मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा से जुड़ी हुई है। हम जानते हैं कि आजकल सरकार उन तमाम जिम्मेदारियों को हाथ में लेती दिखलाई पड़ रही है, जो पहले मालिक वर्ग की हुआ करती थीं। मिसाल के तौर पर, हाल में लाया गया सामाजिक सुरक्षा क़ानून असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए कई योजनाएँ प्रस्तावित करता है। इन सभी योजनाओं का ढंग से लागू होना तो निश्चित नहीं है लेकिन एक बात निश्चित है कि इन योजनाओं के तहत आबण्टित राशियों पर तमाम अफसर और उनके ललुए खूब मलाई काटेंगे! ऊपर से यह पूरी रक़म मालिकों के वर्ग से नहीं वसूली जाती। यह रक़म भारत सरकार के राजस्व के ही एक हिस्से के तौर पर निकाली जाती है। भारत सरकार के राजस्व का करीब 97 फीसदी अप्रत्यक्ष करों से आता है और बताने की जरूरत नहीं है कि यह अप्रत्यक्ष कर मुख्य तौर पर देश की 80 फीसदी मेहनतकश जनता की जेब से आता है। यानी कि मज़दूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा के नाम पर पहले

(पेज 12 पर जारी)

सत्ता की बर्बरता की तस्वीर पेश करती हैं हिरासत में होने वाली मौतें

● डॉ. अमृत

कुछ दिन पहले लुधियाना के एक कारख़ाने में चोरी हुई और मालिक ने इसकी रिपोर्ट पास के एक थाने में दर्ज करवायी। पुलिस "जाँच-पड़ताल" के लिए उस कारख़ाने के तीन मज़दूरों को थाने ले गयी जहाँ उन्हें बुरी तरह पीटा गया। दूसरे मज़दूरों को इसका पता चला तो उन्होंने चार कारख़ानों में कामकाज ठप्प कर दिया। इसके बाद मज़दूरों की रिहाई हुई और मालिक ने जख़्मी मज़दूरों के इलाज़ का ख़र्च उठाया। बाद में यह सामने आया कि मालिक ने अपने किसी झगड़े के कारण यह सब किया था। यह मामला पूरे भारत में पुलिस के काम करने के ढंग और भारतीय तन्त्र में साधारण आदमी पर होने वाले शारीरिक और मानसिक दमन की एक झलक पेश करता है। देश में रोज़ पता नहीं कितनी ही, और इससे भी ज़्यादा बर्बर घटनाएँ होती हैं। एशियाई मानवाधिकर केन्द्र (एशियन सेंटर फ़ॉर ह्यूमन राइट्स) की रिपोर्ट 'भारत में टॉर्चर-2011' ने एक बार फिर भारत में हिरासत के दौरान होने वाले अमानवीय ज़ुल्मों को बेपर्दा किया है। हालाँकि, ख़ुद रिपोर्ट के ही मुताबिक़ जारी किये गये आँकड़े पूरी तस्वीर का एक छोटा हिस्सा हैं और इसमें उन क्षेत्रों के आँकड़े शामिल नहीं हैं जहाँ सशस्त्र बल विशेष सुरक्षा क़ानून (आफ्स्पा) लागू है क्योंकि इन क्षेत्रों में हिरासती मौतों की पड़ताल करने का अधिकार मानवाधिकार आयोग को नहीं है। इसके बावजूद यह रिपोर्ट किसी भी संवेदनशील नागरिक के रोंगटे खड़े करने के लिए काफ़ी है।

इस रिपोर्ट के मुताबिक़ 2001-2010 के बीच दस वर्षों में भारत में हिरासत में 14,231 मौतें हुई यानि प्रति दिन चार से भी अधिक मौतें। यह संख्या नक्सली गतिविधियों या आतंकवादी हमलों में हुई मौतों से भी अधिक है। इसमें से 1504 मौतें पुलिस हिरासत में हुईं और 12,727 मौतें न्यायिक हिरासत के दौरान हुई। पुलिस हिरासत में होने वाली मौतों में से 99.99 प्रतिशत मौतें उस व्यक्ति को हिरासत में लिए जाने के 48 घण्टों के भीतर हुई हैं। यह संख्या सिर्फ़ मानवाधिकार आयोग के पास दर्ज केसों की है, इसलिए असल संख्या काफ़ी अधिक हो सकती है क्योंकि बहुत से मामले तो आयोग के पास पहुँचते ही नहीं हैं। ऐसे केस जिनमें यातना के दौरान मौत नहीं होती, वे तो लगभग पूरी तरह मानवाधिकार आयोग के दायरे से बाहर ही रहते हैं, जिनकी संख्या और भी बड़ी है। फिर भी, पिछले तीन वर्षों के दौरान मानवाधिकार आयोग ने 2,044 ऐसे मामलों के बारे में भी आँकड़े इकट्ठे किए हैं जिनमें से 574 मामले 2008-09 में, 615 मामले 2009-10 में, 855 मामले 2010-11 में सामने आये। इस तरह यह संख्या हर वर्ष बढ़ती रही है। मौत न होने वाले मामलों में अक्सर यातना का शिकार व्यक्ति लम्बे समय के लिए या कई बार तो उम्र भर के लिए शारीरिक तौर पर बेकार हो जाता है या फिर मानसिक सन्तुलन खो बैठता है जिसकी वजह से वह सामान्य ज़िन्दगी जीने के क़ाबिल नहीं रहता।

अगर इस आँकड़े को प्रान्तों के अनुसार बाँट लिया जाये तो पुलिस हिरासत में होने वाली मौतों की संख्या सबसे अधिक महाराष्ट्र में हैं जहाँ 2001-2010 के दौरान 250 व्यक्ति पुलिस हिरासत में मरे, जबकि उत्तर प्रदेश में यह आँकड़ा 174 रहा। न्यायिक हिरासत में मौतों की संख्या उत्तर प्रदेश में पहले नम्बर पर है, वहाँ इसी अर्से के दौरान न्यायिक हिरासत में होने वाली मौतों की संख्या 2171 रही। पंजाब के आँकड़े और भी हैरान करने वाले हैं। पंजाब में इस अर्से के दौरान पुलिस हिरासत में 57 और न्यायिक हिरासत में 739 मौतें हुई हैं। देखने में यह संख्या दूसरे प्रान्तों के मुकाबले कम है लेकिन पंजाब की आबादी भी और राज्यों से कम हैं और यहाँ शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी कोई गड़बड़ी नहीं है। ऐसे में समझा जा सकता है कि यहाँ के हालात उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र से भी बुरे हैं।

हिरासत के दौरान स्त्रियों की स्थिति और भी बुरी होती है और उन्हें बर्बर अत्याचार का सामना करना पड़ता है। हिरासत के दौरान बलात्कार, छेड़छाड़, कपड़े उतारने आदि जैसे घिनौने काम आम बात है। 2001-2010 के बीच हिरासत में बलात्कार के 39 मामले मानवाधिकार आयोग के पास आये, ज़ाहिर है कि असल संख्या इससे बहुत अधिक है। इस दरिन्दगी का शिकार होने वालों में 14 वर्ष की नाबालिग लड़कियाँ तक शामिल हैं। हिरासत के दौरान मौतों और यातना के दायरे में ग्यारह-बारह वर्ष के बच्चे भी हैं। मार्च, 2010 में केन्द्र सरकार ने ख़ुद माना कि 2006 से लेकर फ़रवरी, 2010 के बीच विभिन्न बाल सुधारघरों में 592 बच्चों की मौत हुई। इसके अलावा बाल सुधारघरों में बच्चों के साथ मारपीट और यौन अपराधों के बहुत सारे मामले समय-समय पर सामने आते रहते हैं। हिरासत के दौरान मौतें, बलात्कार और बच्चों पर ज़ुल्म के बहुत सारे मामलों के बारे में एशियन सेंटर की रिपोर्ट में पढ़ा जा सकता है जो इण्टरनेट पर उपलब्ध है।

हिरासती मौतों पर परदा डालना करने के लिए पुलिस और अन्य सरकारी एजेंसियाँ हर तरह के हथकण्डे अपनाती हैं। मानवाधिकार आयोग के मुताबिक़ हिरासत में यातना के कारण हुई मौत को ख़ुदकुशी या पहले से मौजूद बीमारी की वजह से हुई मौत बताया जाना साधारण बात है और इसलिए पुलिस अजीबोग़रीब और हास्यास्पद कहानियाँ गढ़ती है। फाँसी लगाकर ख़ुदकुशी साबित करने के लिए पुलिस तरह-तरह की कहानियाँ गढ़ती है – पुलिस के हिसाब से क़ैदी कभी जूते के फीते से तो कभी रजाई-चादर, जीन पैंट आदि से फाँसी लगा लेते हैं। यह भी समझ नहीं आता कि पुलिस हिरासत में बन्द व्यक्ति के पास ख़ुदकुशी करने के लिए ज़हर, बिजली के तार आदि चीजें कहाँ से आ जाती हैं? इसके अलावा हिरासत में लिये जाने से पहले दिमाग़ी तौर पर पूरी तरह ठीक-ठाक लोग 48 घण्टों के अन्दर ही ख़ुदकुशी क्यों कर लेते हैं? इन प्रश्नों का किसी के पास जवाब नहीं होता। ख़ुदकुशी करने के अलावा बहुत सारे व्यक्ति "बीमारियों" के कारण भी मर जाते हैं। यहाँ तक कि हिरासत से पहले बिल्कुल ठीक-ठाक व्यक्ति 48 घण्टों के भीतर किसी ऐसी "बीमारी" का शिकार हो जाते हैं जिसकी वजह से उनकी मौत हो जाती है। इन मामलों में अक्सर पुलिस डॉक्टरों और अन्य व्यक्तियों की मदद से झूठी रिपोर्टें बनाकर बच निकलती है। जहाँ कहीं हिरासत में लिये गये व्यक्ति को वास्तव में कोई बीमारी हो, वहाँ ऐसे व्यक्ति को मेडिकल सुविधा दिलाने में लापरवाही की जाती है या जानबूझकर देर की जाती है। इसके अलावा, मारे गये व्यक्ति के वारिसों को मामला दबाने के लिए धमकाना, वारिसों पर झूठे केस डालने और परिवार की स्त्रियों से दुर्व्यवहार और बलात्कार की घटनाएँ भी होती हैं।

हिरासती मौतों में मरने वाले अधिकतर व्यक्ति किसी छोटे-मोटे मामले में हिरासत में लिये जाते हैं। भारत में शक़ के आधार पर लोगों या अपराधियों से जानकारियाँ हासिल करने या गुनाह क़बूल करवाने के लिए यातना देना मौटे तौर पर एकमात्र तरीक़ा है। वैज्ञानिक ढंग से घटनाओं की जाँच करना और विश्लेषण करने का ढंग भारत में लगभग गैरहाज़िर है। लेकिन हिरासत में लेकर यातना देने की सिर्फ़ यही वजह नहीं है, और भी कई कारण हैं। जनान्दोलनों, जैसे किसानों के संघर्ष, मज़दूरों की हड़तालों के नेताओं, पुलिस दमन या सरकारी ज़ुल्म का विरोध करने वाले लोगों को हिरासत में लेकर यातना देना तो भारत के हरेक प्रान्त में आम बात है। ऐसे मामलों में अक्सर झूठे केस दर्ज करके लोगों को हिरासत में लिया जाता है और फिर उन्हें सबक़ सिखाने और बाक़ी लोगों को आतंकित करने के लिए अमानवीय ज़ुल्म किये जाते हैं। बहुत सारे मामले ऐसे भी हैं जहाँ मोटी रिश्वत वसूल करने के लिए ऐसा किया जाता है या फिर रिश्वत देने से इनकार करने पर सम्बन्धित व्यक्ति को यातना का शिकार बनाया जाता है। अक्सर ऐसा करने के दौरान पीड़ित व्यक्ति जानलेवा चोटों का शिकार हो जाता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति पुलिस के किसी अधिकारी या एक साधारण सिपाही के साथ बहस में उलझ जाता है और इसकी क़ीमत उसे अमानवीय ज़ुल्म सहकर या यहाँ तक कि मर कर अदा करनी पड़ती है। पुलिस के किसी वाहन को स्कूटर-कार से खरोंच भी किसी व्यक्ति को बुरी तरह पीटने-मारने के लिए काफ़ी होती है। एक मामला तो ऐसा भी सामने आया जिसमें शिकार व्यक्ति का दोष सिर्फ इतना था कि उसने पुलिस के दो सिपाहियों से एक अन्य व्यक्ति को पीटने और घसीटकर ले जाने का कारण पूछ लिया था।

भारत में आज भी पुलिसिया ढाँचा अंग्रेज़ों के ज़माने की तरह काम करता है और जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों का कोई मतलब नहीं है। जनता द्वारा चुनी हुई तथाकथित लोकतांत्रिक सरकार भी कोई कम नहीं है। भारत सरकार अभी भी यातना को न सिर्फ जंग के दौरान बल्कि साधारण हालात में भी, मानवता के ख़िलाफ़ अपराध नहीं मानती। हालाँकि बहुत से पश्चिमी देश कम से कम कागज़ों पर तो ऐसा मानते हैं। भारत सरकार ने बरसों से लटके हुए यातना विरोधी क़ानून को पारित नहीं किया है। आख़िर सरकार को ऐसा करने की ज़रूरत भी क्या है? इस शोषक व्यवस्था के हितों के लिए तो ऐसा ही ढाँचा चाहिए। भारतीय समाज में अमीरी-ग़रीबी की खाई जैसे-जैसे गहरी होती जा रही है और बेरोज़गारी, महँगाई, भुखमरी बढ़ रही है वैसे-वैसे ग़रीबों का दमन-उत्पीड़न भी बढ़ता जा रहा है। दूसरी ओर, भारतीय समाज में गहरे जड़ जमाये गैर-जनवादी मूल्य-मान्यताएँ मसले को और भी गम्भीर बना देती हैं क्योंकि बहुत-से लोग पुलिसिया यातना के तौर-तरीक़ों को ग़लत नहीं मानते या फिर चुपचाप सह लेते हैं। हालाँकि पुलिसिया दमन के ख़िलाफ़ समय-समय पर देश के विभिन्न हिस्सों में जनता के गुस्से का लावा फूटता भी रहता है और मानवीय अधिकारों और नागरिक आज़ादी के लिए लड़ने वाले विभिन्न संगठन भी इसके ख़िलाफ़ संघर्ष करते रहते हैं लेकिन अभी तक इसके ख़िलाफ़ कोई व्यापक जनविरोध संगठित नहीं हो पाया है।

ग्रामीण व खेतिहर मज़दूरों की प्रमुख माँगें और उनकी अपनी यूनियन की ज़रूरत

(पेज 11 से आगे)

उनकी ही जेब से हज़ारों करोड़ रुपये वसूले जाते हैं और फिर उस पैसे को भी भ्रष्ट नेताशाही और नौकरशाही खा जाती है। और ऊपर से पूँजीपति वर्ग की जेब से एक फूटी कौड़ी तक नहीं जाती है! इस तरह से सरकार सामाजिक सुरक्षा के नाम पर देश के मेहनतकशों की जेब में पड़ी आखिरी चवन्नी को भी हड़पकर पूँजीपतियों, नेताओं और नौकरशाहों के हवाले कर देना चाहती है। इसीलिए 'भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक' यह माँग करता है कि ग्रामीण मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा के लिए एक 'ग्रामीण मज़दूर कल्याण कोष' बनाया जाय लेकिन इसके लिए धनराशि को जुटाने के लिए गाँव के भूस्वामियों पर प्रति एकड़ ज़मीन या प्रति कुन्तल उत्पादन के आधार पर सेस (कर) या विशेष लेवी लगाया जाय। साथ ही, ग्रामीण कारखानों के मालिकों और ठेकेदारों से भी योगदान लिया जाय। इसके अलावा एक हिस्सा सरकार के राजस्व से आये और ग्रामीण मज़दूरों से केवल प्रतीकात्मक राशि ही ली जाय। केवल इस सूरत में ही किसी सामाजिक सुरक्षा योजना का कोई अर्थ रह जाता है। अन्यथा, वह जनता के साथ एक बहुत बड़ा धोखा होती है। जैसे कि हाल में बनी 'कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना' जो इसके लिए आवश्यक धन न जुटाये जाने के कारण कभी लागू ही नहीं हो सकी और एक 'कागज़ी शिगूफ़ा बन कर रह गयी'। इसके लिए न तो पर्याप्त धन जुट सका और न ही कृषि मज़दूरों की सही पहचान करके उनके पंजीकरण की कोई व्यवस्था की जा सकी। इसलिए 'माँगपत्रक' यह भी माँग करता है कि इस योजना को लागू करने के लिए धन संग्रह की स्पष्ट जिम्मेदारी और जवाबदेही तय हो। दूसरी बात, इसे लागू करने के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण कल्याण बोर्ड को राज्य से लेकर ब्लॉक स्तर तक स्थापित किया जाय और इसके दायरे में सभी ग्रामीण मज़दूरों को लाया जाय।

इन प्रमुख पाँच माँगों के अतिरिक्त, 'माँगपत्रक' यह भी माँग करता है कि सभी ग्रामीण मज़दूरों को पी.एफ़. व ई.एस.आई. योजना के तहत लाया जाय; ग्रामीण मज़दूरों के लिए यूनियन बनाने और पंजीकरण को सहज और सरल बनाने के लिए उचित प्रबन्ध किये जाएँ और ज़रूरत पड़े तो ट्रेड यूनियन क़ानून में उसके लिए बदलाव किये जाएँ; और अन्त में, 'माँगपत्रक' यह माँग भी करता है कि अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के 2001 में हुए सम्मेलन के प्रावधानों के अनुसार भारत सरकार ऐसे क़ानूनों को पास कराये जो ग्रामीण और खेतिहर मज़दूरों को बेहतर कार्य स्थितियाँ मुहैया कराये और उनके अच्छे स्वास्थ्य को सुनिश्चित करे।

लेकिन पहली पाँच माँगें आज ग्रामीण मज़दूरों की सबसे बुनियादी माँगें हैं। इन पर संघर्ष के लिए ग्रामीण मज़दूरों की अपनी यूनियन बनानी होगी, जिसकी बात लेनिन ने भी की थी। ऐसी यूनियन बनाने में शहर के औद्योगिक मज़दूरों को अपने ग्रामीण साथियों की मदद करनी होगी। उन्हें यूनियन संगठित करने और उसके तहत क़ानूनी लड़ाइयों को संगठित करने का अनुभव होता है। उनके संगठित और गोलबन्द होने का यह अनुभव ग्रामीण मज़दूर वर्ग के काम आ सकता है और आज क्रान्तिकारियों को अपनी औद्योगिक मज़दूर यूनियनों में से मँजे हुए संगठनकर्ताओं और यूनियन कार्यकर्ताओं को गाँवों में ऐसी यूनियन खड़ी करने के लिए भेजना चाहिए। लेनिन का यही सन्देश था और यह आज भी प्रासंगिक है।

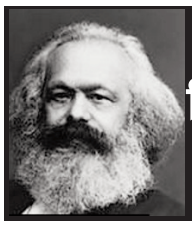

महान शिक्षकों की क़लम से

मज़दूर का अलगाव

• कार्ल मार्क्स

(आर्थिक नियमों के अनुसार मज़दूर का अलगाव इस तरह से प्रकट होता है: मज़दूर जितना अधिक उत्पादन करता है, उसके पास उपभोग करने के लिए उतना ही कम रहता है, वह जितना अधिक मूल्य पैदा करता है, वह खुद उतना ही अधिक मूल्यहीन और महत्वहीन होता जाता है, उसका उत्पादन जितना ही अधिक सुन्दर-सुगठित होता है, मज़दूर उतना ही कुरूप-बेडौल बनता जाता है, उसकी बनायी वस्तुएँ जितनी अधिक सभ्य होती जाती हैं, मज़दूर उतना ही अधिक बर्बर होता जाता है। उसका श्रम जितना अधिक शक्तिशाली होता जाता है, मज़दूर उतना ही अधिक शक्तिहीन होता जाता है, उसका श्रम जितना ही कुशल होता जाता है, मज़दूर उतना ही कम कुशल होता जाता है और वह उतना ही अधिक प्रकृति का दास बन जाता है।)

राजनीतिक अर्थशास्त्र मज़दूर (श्रम) और उत्पादन के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध पर ध्यान न देकर श्रम की प्रकृति में अन्तर्निहित अलगाव को छिपाता है। यह सच है कि श्रम अमीरों के लिए शानदार चीज़ें पैदा करता है–लेकिन मज़दूर के लिए यह अभाव पैदा करता है। यह महल पैदा करता है–लेकिन मज़दूर के लिए सिर्फ़ गन्दी झोपड़ियाँ। यह सुन्दरता पैदा करता है–लेकिन मज़दूर के लिए कुरूपता। यह श्रम की जगह मशीनें ले आता है, लेकिन यह मज़दूरों के एक हिस्से को वापस बर्बर किस्म के श्रम में धकेल देता है और दूसरे हिस्से को एक मशीन में तब्दील कर देता है। यह बुद्धिमत्ता पैदा करता है–लेकिन मज़दूर के लिए, मूर्खता और मन्दबुद्धि।

श्रम का उसके उत्पादों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध मज़दूर का उसके उत्पादन की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है। साधनों के मालिक का उत्पादन की वस्तुओं के साथ और खुद उत्पादन के साथ सम्बन्ध इस पहले सम्बन्ध का ही परिणाम है और उसकी पुष्टि करता है। हम इस पहलू पर बाद में विचार करेंगे। तो, जब हम पूछते हैं कि श्रम का सारभूत सम्बन्ध क्या है, तब हम उत्पादन के साथ मज़दूर के सम्बन्ध के बारे में पूछ रहे होते हैं।

अब तक हम मज़दूर के अलगाव, उसके बेगानेपन के सिर्फ़ एक पहलू पर, यानी मज़दूर के श्रम के उत्पादों से उसके सम्बन्ध पर विचार कर रहे थे। लेकिन यह अलगाव केवल परिणाम में ही नहीं बल्कि खुद उत्पादन की क्रिया में, उत्पादक क्रियाकलाप में भी प्रकट होता है। अगर मज़दूर उत्पादन की क्रिया में ही खुद को अपनेआप से अलग नहीं कर रहा होता, तो वह अपने श्रम की पैदावार को एक अजनबी के रूप में कैसे देखता? आख़िरकार, पैदावार तो उत्पादन की क्रिया का एक सारांश ही है। तब अगर श्रम की पैदावार बेगानापन है, तो स्वयं उत्पादन को सक्रिय बेगानापन होना चाहिए, क्रियाकलाप का बेगानापन, बेगानेपन का क्रियाकलाप। श्रम की वस्तु का अलगाव, सारांश रूप में श्रम के क्रियाकलाप का अलगाव, उसका बेगानापन ही है।

तो फिर, श्रम का बेगानापन है क्या?

सबसे पहले, तथ्य यह है कि श्रम मज़दूर के लिए पराया होता है, यानी यह उसके सहज स्वभाव का हिस्सा नहीं होता, इसलिए वह अपने को स्वीकार नहीं करता बल्कि खुद को नकारता है, सन्तुष्ट नहीं बल्कि नाखुश रहता है, अपनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा का विकास नहीं करता बल्कि अपने शरीर को गला डालता है और दिमाग़ को नष्ट कर लेता है। इसलिए मज़दूर केवल अपने काम से बाहर रहने पर अपने आप को महसूस करता है। जब वह काम नहीं करता है तब सहज महसूस करता है और जब वह काम करता है तब सहज नहीं महसूस करता। इसलिए उसका श्रम स्वैच्छिक नहीं, बल्कि दबाव में किया गया होता है, यह जबरिया श्रम होता है। इसलिए यह किसी ज़रूरत की पूर्ति नहीं होता, यह महज़ उसके लिए परायी कुछ ज़रूरतों को पूरा करने का एक साधन होता है। इसका बेगाना चरित्र इस तथ्य से साफ़ ज़ाहिर होता है कि जैसे ही कोई शारीरिक या अन्य बाध्यता नहीं रह जाती, श्रम से इस तरह दूरी बरती जाती है जैसे वह कोई महामारी हो। पराया श्रम, ऐसा श्रम जिसमें मनुष्य खुद को बेगाना कर लेता है, अपने को क़ुर्बान करने वाला, गला डालने वाला श्रम होता है। अन्त में, मज़दूर के लिए श्रम का पराया चरित्र इस तथ्य में प्रकट होता है कि यह श्रम उसका अपना नहीं होता, बल्कि किसी और का होता है, कि इस पर उसका हक़ नहीं होता, इस श्रम के रूप में अपनेआप पर उसका नहीं, बल्कि दूसरे का हक़ होता है। जैसे धर्म में मनुष्य की कल्पना, मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय की स्वत:स्फूर्त गतिविधि, उससे स्वतंत्र होकर व्यक्ति पर क्रिया करती है–यानी कि एक परायी, दैवी अथवा शैतानी गतिविधि के रूप में क्रिया करती है–इसलिए मज़दूर का क्रियाकलाप उसका स्वत:स्फूर्त क्रयाकलाप नहीं होता। इस पर किसी दूसरे का अधिकार होता है; इसमें वह अपने को ही खो देता है।

इसलिए, इसके परिणाम स्वरूप, मनुष्य (मज़दूर) केवल अपनी पशुवत क्रियाओं – खाने, पीने, बच्चे पैदा करने, या ज़्यादा से ज़्यादा अपनी रिहाइश और कपड़े पहनने आदि में अपने को आज़ादी से काम करते हुए महसूस करता है; और अपनी मानवीय क्रियाओं में वह अपने को एक पशु से ज़्यादा कुछ नहीं महसूस करता। जो पशुवत है वह मानवीय हो जाता है और जो कुछ मानवीय है वह पशुवत बन जाता है।

निश्चित रूप से, खाना, पीना, बच्चे पैदा करना आदि भी वास्तविक मानवीय क्रियाएँ हैं लेकिन अमूर्त तौर पर, अन्य सभी मानवीय क्रियाकलाप के दायरे से अलग करके देखने पर, और एकमात्र तथा अन्तिम लक्ष्यों में बदल देने पर, वे पशुवत क्रियाएँ होती हैं।

हमने मनुष्य की व्यावहारिक गतिविधि, श्रम, के अलगाव की क्रिया के दो पहलुओं पर विचार किया है। (1) श्रम के उत्पाद के साथ मज़दूर का ऐसा सम्बन्ध जिसमें उत्पाद उसके ऊपर नियंत्रण करने वाली एक बेगानी शक्ति होती है। साथ ही, यह सम्बन्ध ऐन्द्रिक बाहरी जगत के साथ, प्रकृति की वस्तुओं के साथ भी उसका सम्बन्ध होता है, एक ऐसे पराये जगत के रूप में जो शत्रुतापूर्ण ढंग से उसका विरोधी है। (2) श्रम प्रक्रिया के भीतर उत्पादन की क्रिया के साथ श्रम का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध एक ऐसी गतिविधि के रूप में अपनी खुद की गतिविधि के साथ मज़दूर का सम्बन्ध है जो एक परायी गतिविधि है जिस पर उसका कोई हक़ नहीं है; इसमें गतिविधि का मतलब है दुख-तकलीफ़, ताक़त का मतलब है कमज़ोरी, सृजन का मतलब है पुंसत्वहीन होना, मज़दूर की अपनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा का नाश होना, उसके निजी जीवन–क्योंकि गतिविधि ही तो जीवन है–का एक ऐसी गतिविधि में बदल जाना जो उसके ख़िलाफ़ है, उससे स्वतंत्र है और जिस पर उसका अधिकार नहीं है। यहाँ हमारे सामने है अपनेआप से अलगाव, जैसे पहले हमने देखा था वस्तु का अलगाव।

('1844 की पाण्डुलिपियाँ' से)

अनुवाद: सत्यम

जन्मदिवस (22 अप्रैल) के अवसर पर

मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक लेनिन

व्लादीमिर इल्यीच लेनिन मज़दूर वर्ग के महान नेता, शिक्षक और दुनिया की पहली सफल मज़दूर क्रान्ति के नेता थे। लेनिन के नेतृत्व में सोवियत संघ में पहले समाजवादी राज्य की स्थापना हुई थी जिसने दुनिया को दिखा दिया कि शोषण-उत्पीड़न के बन्धनों से मुक्त होकर मेहनतकश जनता कैसे-कैसे चमत्कार कर सकती है।

लेनिन का जन्म 22 अप्रैल 1870 को रूस के सिम्बीर्स्क नामक एक छोटे-से शहर में हुआ था। उनके पिता शिक्षा विभाग में अधिकारी थे। उन दिनों रूस में ज़ारशाही का निरंकुश शासन था और मज़दूर तथा किसान आबादी भयंकर शोषण और उत्पीड़न का शिकार थी। दूसरी ओर, पूँजीपति, जागीरदार और ज़ारशाही के अफसर ऐयाशीभरी ज़िन्दगी बिताते थे। लेनिन के बड़े भाई अलेक्सान्द्र एक क्रान्तिकारी संगठन के सदस्य थे जिसने रूसी बादशाह (जिसे ज़ार कहते थे) को मारने की कोशिश की थी। लेनिन 13 वर्ष के थे तभी अलेक्सान्द्र को ज़ार की हत्या के प्रयास के जुर्म में फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। उनकी बड़ी बहन आन्ना को भी गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया गया था। इन घटनाओं ने उनके दिलो-दिमाग़ पर गहरा असर डाला और निरंकुश ज़ारशाही के प्रति उनके मन में गहरी नफ़रत भर दी। लेकिन साथ ही उन्हें यह भी लगने लगा कि अलेक्सान्द्र का रास्ता रूसी जनता की मुक्ति का रास्ता नहीं हो सकता।

क़ानून की पढ़ाई करने के दौरान उन्होंने विद्यार्थियों के विरोध प्रदर्शनों में हिस्सा लेना शुरू किया और कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स की रचनाओं से उनका परिचय हुआ। रूसी क्रान्तिकारी विचारक प्लेखानोव द्वारा बनाये गये 'श्रमिक मुक्ति दल' में वह सक्रिय हुए। फिर वे रूस के सबसे बड़े औद्योगिक शहर सेण्ट पीटर्सबर्ग आकर मज़दूरों को संगठित करने के काम में जुट गये। उन्होंने अपने साथियों के साथ मिलकर मज़दूरों के कई अध्ययन मण्डल शुरू किये और फिर 'श्रमिक मुक्ति के लिए संघर्ष की सेण्ट पीटर्सबर्ग लीग' नामक संगठन में सबको एकजुट किया। लेनिन ने उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन में फैले ग़लत विचारों के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया और स्थापित कर दिया कि एक क्रान्तिकारी पार्टी की अगुवाई में मज़दूर क्रान्ति के द्वारा ही रूसी जनता की मुश्किलों का अन्त हो सकता है। उन्होंने कहा कि मज़दूरों को केवल अपनी तनख़्वाह बढ़वाने और कुछ सुविधाएँ हासिल करने की लड़ाई में नहीं उलझे रहना चाहिए बल्कि उन्हें सत्ता अपने हाथ में लेने के लिए संघर्ष करना चाहिए।

लेनिन ने बताया कि क्रान्ति करने के लिए मज़दूर वर्ग की एक क्रान्तिकारी पार्टी का होना ज़रूरी है। इस पार्टी की रीढ़ ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिए जो पूरी तरह से केवल क्रान्ति के लक्ष्य को ही समर्पित हों। उन्हें ऐसे कार्यकर्ताओं को पेशेवर क्रान्तिकारी कहा। इस पार्टी का निर्माण एक क्रान्तिकारी मज़दूर अखबार के माध्यम से शुरू होगा और यह जनता के बीच अपनी जड़ें गहरी जमा लेगी। उन्होंने कहा कि क्रान्तिकारी पार्टी पूरी तरह खुली होकर काम नहीं कर सकती, उसका केन्द्रीय ढाँचा गुप्त रहना चाहिए ताकि पूँजीवादी सरकार उसे ख़त्म नहीं कर सके। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें' में उन्होंने सर्वहारा वर्ग की नये ढंग की क्रान्तिकारी पार्टी के सांगठनिक उसूलों को प्रस्तुत किया, जिसके अलग-अलग पहलुओं को विकसित करने का काम वे आख़िरी समय तक करते रहे।

लेनिन ने अपने विश्लेषण से यह दिखाया कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है और सर्वहारा क्रान्तियाँ साम्राज्यवाद के युग का अन्त कर देंगी। उन्होंने यह भी बताया कि बड़े-बड़े पूँजीवादी देशों ने ग़रीब और पिछड़े देशों को लूटकर उसके एक हिस्से से अपने देश के मज़दूरों को कुछ सुविधाएँ दे दी हैं। इस वजह से इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी जैसे देशों में मज़दूरों का एक हिस्सा 'अभिजात मज़दूर' बन गया है और अब इसके लिए क्रान्ति का कोई मतलब नहीं रह गया है। ऐसे ही मज़दूरों के बीच नकली लाल झण्डे वाली संशोधनवादी पार्टियों का आधार है। लेनिन ने कहा कि पिछड़े देश साम्राज्यवाद की ज़ंजीर की कमजोर कड़ियाँ है और अब पहले इन्हीं देशों में क्रान्तियाँ होगी।

क्रान्ति के अपने सिद्धान्त को लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के ज़रिए साकार कर दिखाया। क्रान्ति के बाद रातोरात भूमि-सम्बन्धी आज्ञापत्र जारी करके ज़मीन पर ज़मींदारों का मालिकाना बिना मुआवज़े के ख़त्म कर दिया गया और ज़मीन इस्तेमाल के लिए किसानों को दे दी गयी, किसानों को लगान से मुक्त कर दिया गया और तमाम खनिज संसाधन, जंगल और जलाशय जनता की सम्पत्ति हो गये। सभी कारख़ाने राज्य की सम्पत्ति बन गये और तमाम विदेशी क़र्ज़े ज़ब्त कर लिये गये।

लेनिन के नेतृत्व में मज़दूरों का राज क़ायम होते ही सारी दुनिया के लुटेरे पूँजीपति बौखला उठे। मज़दूरों के राज को ख़ून की नदियों में डुबो देने के लिए जनरल देनिकिन, कोल्चाक, ब्रांगेल और पेतल्यूरा जैसे ज़ारशाही के पुराने जनरलों को फ़ौज-फाटे से लैस करके भेजा गया। इधर-उधर बिखर गये श्वेत गार्डों के दस्ते और क्रान्ति-विरोधियों के विभिन्न गुटों ने जगह-जगह लड़ाई और मार-काट मचा रखी थी। इसी बीच अठारह देशों की सेनाओं ने एक साथ रूस पर हमला बोल दिया। सारे लुटेरों को यकीन था कि समाजवादी सत्ता बस कुछ ही दिनों की मेहमान है। मज़दूरों को भला राज-काज चलाना कहाँ आता है। लेकिन लेनिन को मज़दूरों पर अटूट भरोसा था। उनके आह्वान पर, और कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में सारे देश के मेहनतकश अपने राज्य की हिफाज़त करने के लिए उठ खड़े हुए। 1917 से 1921 तक रूस में भीषण गृहयुद्ध चलता रहा। लेकिन आखिरकार शोषकों को कुचल दिया गया और लेनिन की देखरेख में समाजवादी निर्माण का काम जोर-शोर से शुरू हो गया। 1918 में क्रान्ति के दुश्मनों की साज़िश के तहत एक हत्यारी द्वारा चलायी गयी गोलियों से लेनिन बुरी तरह घायल हो गये थे। कुछ सप्ताह बाद वह फिर काम कर लौट आये लेकिन कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो सके। 21 जनवरी 1924 को सिर्फ 53 वर्ष की उम्र में लेनिन का निधन हो गया। लेनिन की मृत्यु के बाद जोसेफ़ स्तालिन ने उनके काम को आगे बढ़ाया। उन्होंने ही मार्क्सवादी विचारधारा को मार्क्सवाद-लेनिनवाद का नाम दिया।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षकों – मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ त्से-तुङ के विचार पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को ख़त्म कर समाजवाद क़ायम करने के संघर्ष में मेहनतकश जनता को राह दिखाते रहेंगे।

भूख से दम तोड़ते असम के चाय बागान मज़दूर

दुनियाभर में मशहूर असम की चाय तैयार करने वाले असम के चाय बागान मज़दूरों के भयंकर शोषण और संघर्ष की ख़बरें बीच-बीच में आती रही हैं, लेकिन पिछले छह महीने से वहाँ के एक चाय बागान में मज़दूरों के साथ जो हो रहा है वह असम राज्य और देश की शासन-व्यवस्था के लिए बेहद शर्मनाक है। असम के 3000 चाय मज़दूर और उनके परिवार, बागान प्रबन्धन के भयंकर शोषण-उत्पीड़न और सरकारी तन्त्र की घनघोर उपेक्षा की वजह से लगातार भुखमरी की हालत में जी रहे हैं। अभी तक कम से कम 14 मज़दूरों की मौत भूख, कुपोषण और ज़रूरी दवा-इलाज के अभाव में हो चुकी है। यह बागान असम के कछार ज़िले में भुवन वैली चाय बागान नाम से जाना जाता है जिस पर कोलकाता की एक निजी कम्पनी का मालिकाना है।

बराक मानवाधिकार समिति की रिपोर्ट के अनुसार बागान प्रबन्धन ने 8 अक्टूबर 2011 को अचानक बागान बन्द कर दिया और मज़दूरों की सवा दो महीने की मज़दूरी भी ज़ब्त कर ली। आजीविका का कोई दूसरा इन्तज़ाम किये बिना मज़दूरों को भूखा मरने के लिए छोड़ दिया गया। इस रिपोर्ट के तथ्य एक बार फिर साबित करते हैं कि पूँजीपतियों की नज़र में मज़दूरों की ज़िन्दगी का कोई मोल नहीं। चाय बागान के सभी वर्तमान और निकाले गये मज़दूर आजीविका के लिए चाय बागान पर ही आश्रित हैं। चाय की पत्तियों को तोड़ने के लिए उन्हें लगातार घण्टों खड़े होकर काम करना पड़ता है, जिससे ज़्यादातर मज़दूरों के पैरों में भयंकर सूजन आ जाती है। सही इलाज न मिलने से अक्सर एक समय के बाद उनके पैर बिल्कुल ख़राब हो जाते हैं और वे कोई काम करने लायक नहीं रह जाते।

एक मज़दूर, जिसका पैर काफ़ी समय से सूजा हुआ था और भयंकर तकलीफ़ में भी किसी तरह काम करता था, अब पैर बेकार होने की वजह से बिस्तर से भी नहीं उठ पाता। उसने बताया कि अभी तक उसे प्रॉविडेण्ट फण्ड, ग्रेच्युटी और बकाया मज़दूरी भी नहीं मिली। उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं है और ना ही वह किसी को अपनी देखभाल के लिए रख सकता है। सरकार और प्रशासन के उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण अब वह बस मौत का इन्तज़ार कर रहा है।

अस्सी साल का एक बूढ़ा मज़दूर बताता है कि वह और उसकी बहू दोनों के पैरों में भयंकर सूजन है। उनकी नौकरी, पिछला बकाया और डाक्टरी उपचार तक उनसे छीन लिया गया है। तीन बेटियों और तीन पोतियों सहित उसका पूरा परिवार काफ़ी दिनों से आधे पेट भोजन पर गुज़ारा कर रहे हैं। 75 साल की एक महिला मज़दूर बेहद कमज़ोर और जर्जर हो चुकी है। हालाँकि उसका बेटा बागान में स्थायी मज़दूर के तौर पर काम करता था फिर भी पिछले छह महीने से उसे किसी प्रकार का राशन, दवा या मज़दूरी नहीं मिली। और अमानवीयता की हद देखिये कि उसके परिवार को ग़रीबी रेखा से ऊपर मानकर उसे किसी सरकारी योजना का लाभ तक नहीं दिया जाता। एक 50 वर्षीय मज़दूर अपनी तकलीफ़ बयान करते-करते रोने लग रहा था। उसने बताया कि उसका पैर बिल्कुल बेकार हो चुका है। वह किसी काम के योग्य नहीं रहा और अब उसके पास भीख माँगने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। वहाँ 45 से अधिक ऐसे मज़दूर हैं जो भूख और बीमारी के कारण गम्भीर स्थिति में हैं फिर भी उन्हें कोई मदद नहीं मिल रही है।

मज़दूरों ने बताया कि उनकी यह हालत एक दिन में नहीं हुई बल्कि दशकों से वे प्रबन्धन की अन्यायी और निरंकुश नीतियों को झेल रहे हैं। उन्होंने बताया कि पूरे असम में औसत मज़दूरी बहुत कम है, अक्सर मज़दूरी का भुगतान नहीं किया जाता, ग्रेच्युटी जैसी अन्य सुविधाएँ नहीं दी जातीं, बिना भुगतान के ओवरटाइम कराया जाता है। मगर इस बागान में तो बहुत बुरी हालत है। कुछ मज़दूर परमानेण्ट जिनकी दिन भर की मज़दूर सिर्फ़ 50 रुपये है, जो परमानेण्ट नहीं हैं उन्हें रोज़ के 41 रुपये मिलते हैं। अस्थायी मज़दूरों को रहने के लिए घर नहीं मिलता और जब वे प्रबन्धन की नीतियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हैं तो यूनियन में काबिज़ गद्दार, अवसरवादी और समझौतापरस्त नेता उनकी आवाज़ को दबाने की ही कोशिश करते हैं। लखीपुर का विधायक और पूर्व मंत्री दिनेश प्रसाद गोवला ही इण्टक से जुड़ी बराक चा श्रमिक यूनियन का महासचिव भी है और मज़दूरों को झूठे आश्वासन देने के सिवा उसने कुछ नहीं किया है।

चार महीने की जबरन बन्दी के बाद फरवरी में बागान खुला भी तो मज़दूरों को 2011 की सिर्फ़ आधी मज़दूरी और आधा बोनस दिया गया। 2009 और 2010 का बोनस अब भी बकाया है। चाय फैक्ट्री तो अब भी चालू नहीं हुई है। वहाँ का प्रबन्धक, आन्दोलन को दबाने के लिए अपने सहायक प्रबन्धक को तैनात करके खुद भाग गया है। असम की तरुण गोगोई सरकार चार महीने तक मज़दूरों की मौत का तमाशा देखती रही और मार्च में उसने अपने एक मंत्री और एक सदस्यीय जाँच कमेटी को हालात का जायज़ा लेने के लिए भेजा। लेकिन उसके बाद भी मज़दूरों को कुछ भी ठोस हासिल नहीं हुआ है। उल्टे केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा चल रही कल्याणकारी योजनाओं से भी मज़दूर कर दिये गये हैं। केन्द्र सरकार की 'बाल विकास योजना' बच्चों, किशोरों और गर्भवती स्त्रियों को आहार और स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए बनायी गयी है, लेकिन उसका कोई लाभ मज़दूर नहीं उठा पाते। 'इन्दिरा आवास योजना' के तहत केवल उन्हीं मज़दूरों को घर मिले हैं है जो प्रबन्धन या सत्ताधारी पार्टियों से जुड़ी यूनियन से मिले हुए हैं।

रिपोर्ट में चेतावनी दी गयी है कि अगर प्रशासन ने तत्काल कदम नहीं उठाये तो बराक घाटी के सात और चाय बागानों चारगोला वैली, दुर्गानगर, मदनमोहन, श्रीबेहुटा, सेगला चेरा, चिनकूड़ी और सरस्वती चाय बागान में भी मज़दूरों की हालत ऐसी ही हो सकती है। बागान मज़दूरों के दर्द को समझना और मालिकों तथा सरकार की असली फ़ितरत को पहचानना भारत के किसी भी इलाके के मज़दूरों के लिए कठिन नहीं है, क्योंकि अलग-अलग तरीक़े से हर जगह उन्हें ऐसे ही हालात का सामना करना पड़ता है।

● **नमिता**

पूँजीपतियों की सेवा में एक और बजट

(पेज 1 से आगे)

पूँजी ख़ासकर विदेशी पूँजी को फ़ायदा पहुँचाने के लिए स्टॉक बज़ारों में होने वाले लेन-देन पर लगाये जाने वाले कर पर 20 प्रतिशत की कटौती कर दी है। यह कर पहले ही बहुत मामूली (1.25 प्रतिशत) था जो कि अब सिर्फ़ 0.1 प्रतिशत रह जायेगा। यह कर घटाये जाने पर सट्टेबाज़ी बढ़ेगी। दूसरा सरकार ने 10 लाख वार्षिक से कम आमदनी वाले मध्यवर्ग के लोगों को शेयर बाज़ार में निवेश के लिए उत्साहित करने की कोशिश की है। शेयर बाज़ार में 50 हजार रुपये तक निवेश की गयी पूँजी पर आय कर में 50 फ़ीसदी छूट दी गयी है। इससे भी पूँजीपतियों को शेयर बाज़ार से पूँजी जुटाने में आसानी होगी।

2011-12 के वित्तीय वर्ष के लिए केन्द्र सरकार का बजट घाटा कुल घरेलू उत्पादन का 5.9 प्रतिशत था जबकि सरकार का लक्ष्य इसे 4.9 प्रतिशत तक लाने का था। 2012-13 के वित्तीय वर्ष के लिए सभी कोशिशों के बावजूद यह घाटा 5.1 प्रतिशत रहने का सरकारी अन्दाज़ा है। सरकार इस घाटे को अधिक से अधिक घटाना चाहती है। मौजूदा बजट में सरकार ने बजट घाटे को कम करने के लिए जो क़दम उठाए हैं वे इस देश की मेहनतकश जनता को बुरी तरह निचोड़ने वाले हैं।

एक्साइज़ ड्यूटी को 12 प्रतिशत से बढ़ाकर 14 प्रतिशत कर दिया गया है। इससे केन्द्रीय उत्पाद करों से सरकारी आमदनी 150,075 करोड़ से बढ़कर 197,729 करोड़ होने का अन्दाज़ा है यानि एक वर्ष में लगभग 30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी। दूसरे हाथ सरकार ने खादों और पेट्रोलियम पदार्थों पर सब्सिडी घटाने का फैसला किया है। 2011-12 के लिए संशोधित अनुमानों के मुताबिक़ खादों पर सरकार 67,199 करोड़ रुपये की सब्सिडी देती है, जो 2012-13 में घटकर 60,974 करोड़ रुपये रह जाएगी। इस तरह पेट्रोलियम पदार्थों पर 2011-12 में 68,481 करोड़ रुपये सब्सिडी दी जाती थी जो कि 2012-13 में घट कर 43,580 करोड़ रुपये रह जाएगी। इसका भी बोझ आम जनता पर ही पड़ेगा। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र से पूँजी विनिवेश के कार्यक्रम को तेज़ करने का भी फैसला किया है। 2011-12 के बजट में सरकार ने विनिवेश से 40,000 करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य रखा था लेकिन 14,000 करोड़ रुपये ही जुटा पायी थी। इस बजट में सरकार ने विनिवेश से 30,000 करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य तय किया है। इससे सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण की रफ़्तार तेज़ हो जायेगी। सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों की छँटनी का सिलसिला तेज़ होगा, नयी भरती रुकेगी। पक्के सुरक्षित रोज़गार के अवसर सिकुड़ेंगे।

ये हैं वे तरीक़े जिनके जरिए सरकार बजट घाटा कम करना चाहती है। इनमें कही भी देशी-विदेशी पूँजीपतियों के बेहिसाब मुनाफों पर कर लगाकर धन जुटाना और इसे ग़रीबों-मेहनतकशों के हितों में इस्तेमाल करना शामिल नहीं है और देश के हुक्मरानों से ऐसी उम्मीद करना भी हद दर्जे का भोलापन होगा।

सरकार करों से जो धन संग्रह करती है उसका बड़ा हिस्सा अप्रत्यक्ष करों का है जिसका बड़ा हिस्सा इस देश के मेहनतकश अदा करते हैं। प्रत्यक्ष कर, यानि आमदनी पर कर जो कि प्राय: अमीरों पर लगता है, उसका सरकारी आमदनी में बहुत कम हिस्सा है। 2010-11 में सरकार को करों से होने वाली कुल आमदनी में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा 38 प्रतिशत था जो कि अब घटकर अन्दाज़न 35 प्रतिशत रह जायेगा। साफ़ है कि साधारण मेहनतकशों पर करों का बोझ लगातार बढ़ता जा रहा है।

यूपीए सरकार के बहु-प्रचारित 'खाद्य सुरक्षा क़ानून' को लागू करने पर 2011-12 में 73,000 करोड़ रुपये रखे गये थे और 2012-13 के लिए इसमें सिर्फ़ 2 हज़ार करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी की गयी है जबकि इस समय के दौरान खाने-पीने की सभी वस्तुओं की क़ीमतें असमान छू रही हैं। इस क़ानून के दायरे में भी आबादी के एक बहुत छोटे हिस्से को लिया जा रहा है। जिस देश में 80 प्रतिशत आबादी भुखमरी से जूझ रही हो, वहाँ खाद्य सुरक्षा पर यह मामूली सा ख़र्च जनता के साथ एक भद्दा मज़ाक़ है।

महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार क़ानून के तहत ग्रामीण मज़दूरों को रोज़गार देने के लिए किये जाने वाले ख़र्च का भी यही हाल है। चालू वर्ष में इस स्कीम पर 31,000 करोड़ रुपये ख़र्च किये गये जो कि इस स्कीम के लिए रखे गए कुल फ़ण्ड का 75 प्रतिशत था। आने वाले वर्ष के लिए सरकार ने इस स्कीम पर होने वाले कुल ख़र्च में 7,000 करोड़ रुपये की कमी करके इसे 33,000 करोड़ रुपये कर दिया है। वैसे भी यह स्कीम देश में आधी-अधूरी ही लागू हो रही है। लगभग पूरे देश में ही ग्रामीण ग़रीबों को इस स्कीम के तहत 50 दिन भी रोज़गार नहीं मिलता। यह स्कीम बड़े पैमाने पर सरकारी नौकरशाही और ग्रामीण दबंगों के भ्रष्टाचार की शिकार है। अन्य सभी सरकारी कार्यक्रमों की तरह ही इसके अन्तर्गत ग़रीबों के लिए जारी होने वाला धन सरकारी नौकरशाही और ग्रामीण चौधरियों के ही पेट में जाता है। इसके असल हक़दारों तक तो कुछ टुकड़े ही पहुँच पाते हैं।

वैसे महँगाई का राक्षस तो हमेशा ही देश के मेहनतकशों को कुचलता रहा है, लेकिन पिछले दो-ढाई वर्षों से महँगाई छलाँगें लगाते हुए बढ़ी है। प्रणब मुखर्जी का यह बजट महँगाई में और भी तीख़ी बढ़ोत्तरी करेगा। एक्साइज़ ड्यूटी में बढ़ोत्तरी प्रत्यक्ष तौर पर महँगाई में बढ़ोत्तरी है। पेट्रोलियम पदार्थों पर सब्सिडी के ख़ात्मे के साथ साधारण लोगों की ज़रूरत की सभी वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ जायेंगी। परिवहन भी महँगा होगा।

खादों पर सब्सिडी कम करने का नतीजा भी महँगाई ही होगा। खादों का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल ग्रामीण पूँजीपति ही करते हैं, इसके लिए खादों पर सब्सिडी का फ़ायदा भी इसी वर्ग को होता है। अब खादों पर सब्सिडी घटने का असर इस वर्ग के मुनाफ़े घटने में नहीं निकलेगा। यह वर्ग तो कृषि जिंसों की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी के रूप में अपना मुनाफ़ा पहले की ही तरह बरक़रार रखेगा जबकि सारा बोझ इस देश की मेहनतकश आबादी पर ही पड़ेगा।

कुल मिलाकर इस बजट में जहाँ अमीरों के लिए राहत है वहीं ग़रीबों के लिए आफ़त है। यह अमीरों को और अमीर बनाने वाला और ग़रीबों को और अधिक निचोड़ने वाला बजट है। सरकार की ऐसी नीतियाँ समाज के भीतर वर्ग ध्रुवीकरण को लगातार तीख़ा कर रही हैं जिसके नतीजे के तौर पर सामाजिक हालात लगातार विस्फोटक होते जा रहे हैं। बढ़ती ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, अन्याय, अपमान के विरुद्ध मेहनतकशों के गुस्से के सम्भावित विस्फोटों से भी देश के हुक्मरान चिन्तित हैं। ऐसी हर परिस्थिति से निपटने के लिए भी वे पहले से ही तैयारी कर रहे हैं। यही मुख्य वजह है कि इस बजट में रक्षा बजट में भारी बढ़ोत्तरी की गयी है और भविष्य में और भी बढ़ाने की तैयारी की जा रही है। 2012-13 के रक्षा बजट के लिए 1.93 लाख करोड़ की रकम रखी गयी है जो कि कुल घरेलू उत्पादन के 1.90 प्रतिशत के क़रीब है। निकट भविष्य में सरकार की योजना इसे बढ़ाकर ढाई लाख करोड़ करने की है। रक्षा बजट में इस बड़ी बढ़ोत्तरी के लिए चीन से ख़तरे का बहाना बनाया गया है। लेकिन इस देश के लुटेरे हुक्मरानों को वास्तविक ख़तरा बाहरी नहीं है बल्कि छह दशकों से लूट-दमन की मार झेलते आ रहे मेहनतकशों से है, जिनके सब्र का प्याला लगातार भरता जा रहा है। इस देश के हुक्मरानों को दिन-रात इस देश के करोड़ों मेहनतकशों के इस दमनकारी-अन्यायपूर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ उठ खड़े होने का डर सताता रहता है। उनका यह सम्भावित डर कब एक हक़ीक़त बनेगा यह तो आने वाला समय ही बतायेगा।

सिलेसियाई बुनकरों का गीत

• हाइनरिख़ हाइने

उनकी आँखें सूखी हैं क्योंकि आँसू नज़र धुँधलाते हैं,
दाँत कसकर भींचे हुए, वे अपने करघे चलाते हैं।
'हम बुन रहे हैं कफ़न तेरे लिए, ओ जर्मनी
हम बुन रहे हैं तिहरा अभिशाप तेरे लिए
रहे हम बुन, रहे हम बुन।

'एक अभिशाप उस ख़ुदा के लिए जिससे हम रोते रहे
भूख से मरते रहे और जाड़ों में खुले सोते रहे,
उम्मीदें बाँधीं, दुआएँ कीं, पुकारा उसे व्यर्थ ही,
वह हँसा हम पर, उपहास किया, बढ़ाया और दर्द ही।
रहे हम बुन, रहे हम बुन।

'एक अभिशाप राजा के लिए जो है अमीरों का ख़ैरख़्वाह,
ग़रीबों के दुख से जिसे आती उबासियाँ,
खसोटता है टैक्स जो बंजरों-मड़इयों से,
और हमें मरवाता है भाड़े के सिपइयों से।
रहे हम बुन, रहे हम बुन।

'एक अभिशाप उस पितृभूमि के लिए जिसे मानते थे अपनी,
जहाँ सिर्फ़ दुष्टता और बुराई ही है पनपी,
जहाँ मसल जाती हैं कलियाँ खिलने से पहले,
जहाँ गन्दखोर कीड़े मुटाते हुए फैले।
रहे हम बुन, रहे हम बुन।

खड़कता है करघा और घूमती है भरनी,
दिन-रात हम बुन रहे तेरा सर्वनाश, ओ जर्मनी,
हम बुन रहे हैं कफ़न तेरे लिए, बूढ़े जर्मनी,
हम बुन रहे हैं तिहरा अभिशाप तेरे लिए।
रहे हम बुन, रहे हम बुन।'

अनुवादः सत्यम

पूँजीवादी बजट और अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ नंगी सच्चाइयाँ

(पेज 1 से आगे)

करने के लिए कुछ लोगों को चुन लिया करे? इस देश का संविधान भी देश की जनता को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने का आश्वासन देता है।

सब्सिडी की असलियत को समझ लेना भी ज़रूरी है। कुल-मिलाकर जो सब्सिडी दी जाती है उसका बहुत बड़ा हिस्सा कारपोरेट घरानों, व्यापारियों और पूँजीपतियों की जेब में जाता है। ग़रीबों को मिलने वाली सरकारी सहायता तो लगातार पिछले बीस वर्षों में कम होती चली गयी है। एक-एक कर, तमाम सुविधाओं का निजीकरण किया जा रहा है या फिर सरकारी अस्पतालों, स्कूलों आदि में फीसें बढ़ायी जा रही हैं। दूसरी तरफ, कारपोरेट घरानों को मिलने वाली सब्सिडी, टैक्स माफ़ी लगातार बढ़ती ही गयी है। खाद आदि पर मिलने वाली सब्सिडी का फ़ायदा भी दरअसल खाद कम्पनियों को ही मिलता है। बेहद सस्ती दर पर उद्योगों के लिए बिजली, नब्बे-नब्बे साल की लीज़ और नाममात्र के किराये पर विशाल भूखण्ड, नये उद्योग लगाने पर कई साल के लिए टैक्सों में छूट, बहुत सस्ती दर पर बैंकों से कर्ज़ आदि के रूप में पूँजीपतियों को ज़बर्दस्त फायदा पहुँचाया जाता है। इसके बाद भी ज़्यादातर घराने भारी टैक्स चोरी करते हैं, सालों-साल तक बिजली आदि के बिलों का भुगतान नहीं करते, फिर वसूली के सवाल पर अदालत चले जाते हैं या लम्बी किश्ते बँधवा लेते हैं और अक्सर उसे भी नहीं चुकाते। सरकारी बैंकों के घाटे की एक बहुत बड़ी वजह यह है कि देश के पूँजीपति घरानों के पास बैंकों का क़रीब एक लाख करोड़ रुपया बरसों से पड़ा है जिसे वे न लौटा रहे हैं और न ही ब्याज़ अदा कर रहे हैं। ग़रीब किसान और मज़दूर कर्ज़ न चुका पाने के कारण आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाते हैं या उन्हें जेल और कुर्की की सज़ा भुगतनी पड़ती है, मगर अरबों रुपए डकार कर अमीर लोग शान से घूमते रहते हैं।

किंगफिशर एयरलाइन्स का उदाहरण सामने है जिसके मालिक विजय माल्या अपनी अश्लील किस्म की अय्याशियों के लिए कुख्यात हैं और अपनी शराब कम्पनियों से दुनियाभर में भारी कमाई करते हैं। मगर एयरलाइन्स का सैकड़ों करोड़ का घाटा पूरा करने के लिए वह सरकार से सैकड़ों करोड़ रुपये का सस्ता कर्ज़ माँगते हैं और वह उन्हें मिल भी जाता है। वोडाफोन कम्पनी के उदाहरण से भी इसे समझा जा सकता है। कम्पनी ने सीधे-सीधे धोखाधड़ी करके सरकार को हज़ारों करोड़ का चूना लगाया है मगर उसके मालिकों को गिरफ़्तार करने के बजाय सरकार उसे छूट देने के लिए पिछली तारीख से कानून में संशोधन करने पर आमादा है।

यहीं पर यह जान लेना भी ज़रूरी है कि सरकार को टैक्सों से जो भारी कमाई होती है उसका बड़ा हिस्सा देश की ग़रीब जनता चुकाती है। अक्सर मध्यवर्ग तक के लोग काफ़ी नाराज़ हुआ करते हैं कि अमीरों और मध्यवर्गीय लोगों से वसूले गए टैक्सों की रकम सरकार ग़रीबों पर लुटा रही है। उन्हें यह बताया जाना ज़रूरी है कि ग़रीब उन्हें मिलने वाली थोड़ी बहुत सहायता का भी खर्च उठाते हैं बल्कि इस देश की नेताशाही और अफसरशाही की विलासिता और शानोशौकत का बोझ भी उन्हीं की पीठ पर पड़ता है। देश के कुल टैक्सों का लगभग दो-तिहाई हिस्सा परोक्ष करों से आता है, यानी देश की करोड़ों जनता अपनी रोज़मर्रा की जरूरतों के लिए जो कुछ भी सामान खरीदती है उसके दाम में शामिल उत्पाद कर, बिक्री कर, सीमा शुल्क आदि के ज़रिये जो परोक्ष कर वह चुकाती है उसकी कुल मात्रा आयकर जैसे प्रत्यक्ष करों की लगभग दोगुनी होती है। सभी अर्थशास्त्री इस बात को जानते हैं कि प्रत्यक्ष कर मध्यवर्ग और अमीर आबादी चुकाती है और परोक्ष करों का भारी हिस्सा ग़रीब चुकाते हैं फिर भी यह झूठ लगातार प्रचारित होता रहता है।

ग़रीबों से वसूले जाने वाले इन्हीं परोक्ष करों की बदौलत भारत की विशाल नौकरशाही और नेताशाही की फिजूलखर्चियां होती हैं। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और सम्बद्ध विभागों का कुल ख़र्च वर्ष 2006-07 में 1 खरब 36 अरब डॉलर (यानी क़रीब 61 खरब 20 अरब रुपये) और 2007-08 में 1 खरब 66 अरब डॉलर था। वर्ष 2007-08 में केन्द्र सरकार की टैक्सों से होने वाली शुद्ध आय 23 प्रतिशत बढ़कर 3 खरब 75 अरब डॉलर हो गयी। सचिव स्तर से लेकर नीचे कलक्टर-तहसीलदार तक, डीजीपी से लेकर एसपी तक, बिजली, सिंचाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, रेल, डाक-तार, यातायात, उद्योग-व्यापार आदि विभागों के अफ़सरों-इंजीनियरों से लेकर राजनयिकों तक – देश में क़रीब 70-75 लाख ऐसे अधिकारी होंगे जो अपनी वैध कमाई से पश्चिमी देशों के पैमाने पर उच्च-मध्यवर्ग की ज़िन्दगी बिताते हैं।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि सरकार के पास संसाधनों की कोई कमी नहीं है। कल्याणकारी राज्य को जिन ज़िम्मेदारियों को पूरा करना ही चाहिए उनसे एक-एक कर सरकारे पल्ला झाड़ती गई हैं और हर बार संसाधनों की कमी का रोना रोया जाता है। मगर इस सच्चाई को कोई सामने नहीं लाता कि जब अमीरों को फायदा पहुंचाना हो तो चुटकी बजाते सारे संसाधन इकट्ठा हो जाते हैं। टाटा की "ग़रीबों की कार" नैनो का कारखाना लगाने के लिए नरेन्द्र मोदी ने उन्हें ज़मीन, टैक्सों में छूट, बिजली की दरों में रियायत आदि के ज़रिये जो फायदा पहुंचाया है उसे अगर जोड़ा जाए तो टाटा की हर लखटकिया कार पर करीब साठ हज़ार रुपए की सब्सिडी बैठेगी (स्रोत, टाइम्स ऑफ इण्डिया)।

सेनाध्यक्ष विवाद : क्रान्तिकारी मज़दूर वर्गीय नज़रिया

(पेज 1 से आगे)

सैन्य शक्ति के मुक़ाबले यह बहुत पीछे है और बहुत कोशिश करके भी उसकी बराबरी में नहीं आ सकता। यहाँ यह चर्चा करना भी महत्वपूर्ण है कि चीन अब साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ पाल रहा है और क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं में भारत से उसके टकराव की अभी बहुत कम सम्भावना है। पाकिस्तान के मुकाबले तो भारत की सैन्य शक्ति पहले ही कई गुना अधिक है। इसलिए यह समझा जा सकता है कि इन देशों से सम्भावित ख़तरे के कारण नहीं बल्कि अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्वाकांक्षा के चलते ही भारतीय शासक वर्ग इतने बड़े पैमाने पर हथियारों का ज़खीरा इकट्ठा कर रहे हैं। अगल-बगल के छोटे देशों को डराने के लिए और दुनिया के पैमाने पर अपनी ताक़त दर्शाने के लिए यह सारी कवायद की जा रही है। परमाणु शक्ति तो वह पहले ही हासिल कर चुका है। भारतीय शासक वर्ग जानते हैं कि साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में वे अपने बूते पर नहीं टिक सकते। विश्वस्तर पर लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए उन्हें किसी न किसी गुट में शामिल होना है और इसके लिए अपनी सामरिक शक्ति का मुज़ाहिरा करते रहना भी ज़रूरी है। इसके अलावा विराट सैन्य शक्ति का हव्वा दिखाना अपनी जनता के लिए भी ज़रूरी होता है। हर शोषक राज्यसत्ता अपने उन्नत, शक्तिशाली सैन्यतन्त्र का हव्वा खड़ा करने की कोशिश करती है जिससे कि आम जनता उससे टकराने की हिम्मत न जुटा सके।

फिर सवाल उठता है कि यदि सेना इतनी महत्वपूर्ण है तो यह कमज़ोरी बाहर कैसे आ गयी। यहाँ मुख्य बात व्यवस्था के आपसी अन्तरविरोधों की है। देशभक्ति के नाम पर अक्सर इसकी चर्चा नहीं होती मगर यह एक खुला रहस्य है कि सेना में ऊपर से नीचे तक ज़बर्दस्त भ्रष्टाचार व्याप्त है। सैनिकों की वर्दी और भोजन से लेकर ताबूतों की ख़रीद से लेकर हथियारों के सौदों तक में ज़बर्दस्त कमीशनख़ोरी होती है। हथियारों के सौदागरों की अन्तरराष्ट्रीय लॉबियाँ इतनी ताकतवर हैं कि वे कई देशों की सरकारों को गिराने की क्षमता रखती हैं। भले ही हथियार देश की रक्षा के नाम पर ख़रीदे जाते हों मगर सच यह है कि हथियार आज दुनिया का सबसे बड़ा उद्योग है। हथियार बेचने के लिए युद्ध तक करवाये जाते हैं। हथियारों के एजेण्टों का एक विश्वव्यापी तन्त्र है जिनके बिना यह उद्योग चल ही नहीं सकता। अपनी-अपनी हथियार कम्पनियों की पैरोकारी करने में सरकारें भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेती हैं। हाल में भारत सरकार द्वारा फ्रांस से रफाले लड़ाकू विमान खरीदने के लिए किये गए 76 हज़ार करोड़ रुपये के सौदे के बाद जिस तरह ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री अपने देश की कम्पनी को ठेका न मिलने पर भड़क उठे थे वह इस बात का उदाहरण है। यह स्पष्ट है कि सेनाध्यक्ष को लेकर चल रहा सारा विवाद हथियारों के सौदागरों, उनकी अलग-अलग लॉबियों और उनसे जुड़े नेताओं और अफसरों की प्रतिस्पर्द्धा का ही नतीजा है। संकटग्रस्त पूँजीवादी व्यवस्था और एक कमज़ोर सरकार की वजह से यह अन्तरविरोध फूट कर सतह पर आ गया है।

लेकिन इससे सत्ता का ज़्यादा नुकसान नहीं होने वाला क्योंकि पढ़ी-लिखी आबादी जानती ही है कि सेना में किस कदर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। मगर इससे सत्ता को फ़ायदा यह हुआ कि अब आने वाले कई वर्षों तक हथियारों की ख़रीद पर सवाल उठाने वालों को देशद्रोही ठहराया जा सकेगा। इस पूरे प्रकरण में, मीडिया, खासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की भूमिका एक बार फिर नंगी हुई है जो बिना किसी आलोचनात्मक विवेक के अन्धराष्ट्रवाद का ढोल पीटने और देशभक्ति के नाम पर जनता की गाढ़ी कमाई से निचोड़ी गयी भारी रकमों को बड़े-बड़े रक्षा सौदों में खर्च करने का माहौल बनाने में जुट गया है। कहीं भी इस बात की चर्चा नहीं होती कि युद्ध और हथियारों के धन्धे की जड़ में पूँजीवाद ही है। दूसरे महायुद्ध के बाद से कोई महायुद्ध भले न हुआ हो लेकिन पूरी दुनिया में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के चलते हुए या फिर साम्राज्यवादियों द्वारा भड़काए गए सैकड़ों छोटे-बड़े युद्धों में कई करोड़ लोग मारे जा चुके हैं। दुनिया की समस्त वैज्ञानिक और तकनीकी क्षमता का सबसे बड़ा हिस्सा मौत के नये-नये सामान बनाने और विकसित करने में लगा हुआ है। जब तक पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अस्तित्व रहेगा तब तक हथियारों का धन्धा फलता-फूलता रहेगा। पूँजीवाद भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो सकता और हथियारों का कारोबार दलाली और अपराध से मुक्त नहीं हो सकता। व्यवस्था के पैरोकारों की यह चिन्ता होती है कि जिन सौदों में सबकी भलाई हो उनकी असलियत उजागर न हो। हर बार ऐसे अन्तरविरोधों के प्रकट हो जाने के बाद नियन्त्रण और सन्तुलन के अलग-अलग इन्तज़ाम किये जाते हैं जिससे इन घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो। इस बार भी ऐसा करने की कोशिश की जा रही है। लेकिन न तो हथियार ख़रीदने की होड़ बन्द होने वाली है और ना ही हथियारों की ख़रीद में दलाली पर स्थायी रोक लग सकेगी।

आज़ादी के फलों से कोसों दूर भारत की मेहनतकश जनता

अंग्रेज़ों से आज़ादी हासिल हुए छह दशक गुज़र चुके हैं लेकिन जनता को इस आजादी से क्या हासिल हुआ है? गृह मन्त्रालय द्वारा जारी किये गये 2010 की जनगणना के नतीजों से हमें इस प्रश्न का सटीक जवाब मिलता है।

इन आँकड़ों के अनुसार आज भी भारत के 15 प्रतिशत परिवार घास, बाँस, लकड़ी या मिट्टी आदि के बने कच्चे घरों में रहने के लिए मजबूर हैं। भारत के 31 प्रतिशत घरों, यानी 33 करोड़ में से 10 करोड़ घरों में आज भी बिजली से रोशनी नहीं होती बल्कि इसके लिए मिट्टी के तेल का इस्तेमाल किया जाता है। भारतीय गाँवों में ऐसे 43 प्रतिशत घर हैं और शहरी भारत में सात प्रतिशत। 2001 की जनगणना में गाँवों के ऐसे घरों की संख्या 41 प्रतिशत थी यानी कि ताज़ा जनगणना के मुताबिक़ इनकी संख्या कम होने के बजाय 2 प्रतिशत बढ़ चुकी है। इन घरों तक या तो बिजली पहुँची ही नहीं या फिर लोग बिजली का ख़र्च उठाने में ही अक्षम हैं। यहीं पर इस तथ्य को याद कर लेना ज़रूरी है कि 1917 में हुई सोवियत क्रान्ति के बाद चार वर्ष के भीतर सोवियत संघ के विशाल भूभाग के गाँव-गाँव तक बिजली पहुँचा दी गयी थी।

अन्तरिक्ष में नियमित उपग्रह भेजने की क्षमता रखने वाले भारत की एक बहुत बड़ी आबादी को आज भी पीने का पानी तक ठीक ढंग से नहीं मिल पाता। देश के 53 प्रतिशत घर ऐसे हैं जहाँ नल, कुएँ आदि पानी का स्रोत नहीं है यानि उन्हें पानी घर के बाहर से लाना पड़ता है। 18 प्रतिशत घरों को पेयजल गाँवों में 500 मीटर और शहरों में 100 मीटर से अधिक दूरी से लाना पड़ता है। शहरों में 70 प्रतिशत और गाँवों के सिर्फ़ 30 प्रतिशत घरों तक नल का पानी पहुँच पाता है। देश के 68 प्रतिशत घरों तक फ़िल्ट्रेशन प्लाण्ट द्वारा साफ़ किया गया पीने का पानी नहीं पहुँचता।

शहरों में बड़े-बड़े होटल और रेस्त्रां खुल रहे हैं जिन्हें देखकर देश की तेज़ी से बढ़ रही समृद्धि का भ्रम पैदा होता है। लेकिन भारत के सिर्फ़ 61 प्रतिशत घरों में भोजन पकाने के लिए रसोई है यानि 39 प्रतिशत घरों में भोजन या तो खुले में ही पकाया जाता है या फिर सोने वाले कमरे में। शहरों में 21 प्रतिशत घर ऐसे हैं जहाँ रसोई नहीं है। गाँवों में ऐसे घरों की संख्या 47 प्रतिशत है। और देखिये। देश के 67 प्रतिशत घरों में खाना पकाने के लिए ईंधन के रूप में लकड़ी, गोबर, कोयले आदि का इस्तेमाल होता है। देश के सिर्फ़ 29 प्रतिशत घरों में ही भोजन पकाने के लिए एल.पी.जी. गैस, बिजली, या गोबर गैस आदि का इस्तेमाल होता है। शहरों में भी ईंधन के तौर पर 20.1 प्रतिशत घरों में लकड़ी और 7.5 प्रतिशत घरों में मिट्टी के तेल का इस्तेमाल होता है जबकि यहाँ 65 प्रतिशत घरों में ही एल.पी.जी. गैस का इस्तेमाल होता है।

ये आँकड़े भारत की आम जनता की दुर्दशा की सिर्फ़ एक झलक पेश करते हैं। यह तस्वीर कितनी भयावह है इसका अन्दाज़ा तब लगता है जब आप तस्वीर के दूसरे पहलू पर भी नज़र डालें, यानी देश में बढ़ती अमीरी और विलासिता के आँकड़ों को भी देखें। इन आँकड़ों ने इस सच्चाई को एक बार फिर साबित किया है कि 1947 की आधी-अधूरी आज़ादी के बाद पूँजीवादी विकास का जो रास्ता अपनाया गया उसने व्यापक मेहनतकश जनता के दुखों और आँसुओं के समन्दर में विलासिता के टापू और ऐयाशी की मीनारें खड़ी की हैं।

–लखविन्दर

अल-ज़ज़ीरा की वेबसाइट से साभार

लोकतन्त्र के बारे में नेता से मज़दूर की बातचीत

लोकतन्त्र का हमारे लिए बस यही मतलब है
कि सुनते रहें आपके भाषण और लगाते रहें मतपत्र पर छापा।
फिर पाँच साल तक संसद में आप लगाते रहें लोट
ऊँघते रहें और छोड़ते रहें गैस
आपके कुनबे वाले करते रहें ऐश,
दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाये आपकी दौलत
और आपका मोटापा।

इस लोकतन्त्र में कारख़ानों में राख हो जाती है
हम मज़दूरों की जवानी
और दिप-दिप दमकता है मुफ़्तख़ोरों का बुढ़ापा।
आप तो हैं उन्हीं के टुकड़ख़ोर
जो हमारी हड्डियों का चूरा तक बनाकर
बेच देते हैं बाज़ारों में,
फिर करते हैं दान-धरम और लगाते हैं तिलक छापा।

आप मनाते हैं न जाने कितने तरह के जश्न
जब हमारी बस्तियों में होता है सन्नाटा और सियापा।
हमारी बदमतीज़ी के लिए आप कत्तई हमें माफ़ नहीं करेंगे
पर हम यह कहे बिना रोक नहीं पा रहे हैं अपने आपको
कि ये जो "दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र" है न महामहिम!
है ये अजब तमाशा और गजब चूतियापा!

–नकछेदी लाल

100 करोड़ ग़रीबों के प्रतिनिधि सारे करोड़पति?

पाँच राज्यों - उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तराखण्ड, गोवा और मणिपुर - में विधानसभा चुनावों की प्रक्रिया ख़त्म हो चुकी है। इन चुनावों के नतीजे अब हमारे सामने हैं। कहने को तो कई पार्टियाँ जीती हैं और कई हारी हैं। लेकिन जो बात सबसे साफ़ तौर पर साबित हुई है वह यह है कि पूँजीवादी चुनावों से आम जनता को कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। पाँच विधानसभाओं में कुल 690 विधाायक चुने गये हैं। इनमें से 66 प्रतिशत यानि 457 विधायक करोड़पति हैं। ध्यान रहे कि यह आँकड़ा उस ब्योरे के आधाार पर है जो सभी चुने गये विधायकों ने चुनाव आयोग को सौंपा था। अब यह तो सभी जानते हैं कि चुनाव आयोग को दी गयी जानकारी और असली सम्पत्ति में कितना फ़र्क़ होता है। नेताओं की असली सम्पत्ति इससे कई गुना अधिक होती है। इन विधानसभा चुनावों में करोड़पतियों को स्पष्ट बहुमत हासिल हुआ है। आम जनता के लिए तो चुनाव लड़ना ही असम्भव हो गया है, चुनावों में जीतना तो बहुत दूर की बात है।

पंजाब में कुल 117 विधायकों में से 101 विधायक यानि 86 प्रतिशत विधायक करोड़पति हैं। 2007 के विधाानसभा चुनावों के बाद पंजाब में करोड़पति विधायकों की संख्या 77 (66 प्रतिशत) थी। न सिर्फ़ पंजाब विधानसभा में करोड़पतियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है बल्कि उन विधायकों ने भी दौलत जुटाने के मामले में दिन दुगनी रात चौगुनी कामयाबी हासिल की है जिन्होंने 2007 के चुनाव भी जीते थे और अब दुबारा विधायक बने हैं। इस तरह के विधायकों की गिनती 74 प्रतिशत के आसपास है। जहाँ जनता की हालत दिन-ब-दिन बद से बदतर होती गयी है वहीं जनप्रतिनिधियों की सम्पत्ति में पिछले पाँच वर्षों के दौरान 60 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई है।

बाक़ी राज्यों की भी यही कहानी है। उत्तर प्रदेश में 2007 में 124 करोड़पति विधानसभा में पहुँचे थे। नयी विधानसभा में इनकी संख्या 271 यानि 67 प्रतिशत है। उत्तराखण्ड में 46 प्रतिशत नये विधायक हैं। 2007 के चुनावों में इनकी संख्या 12 प्रतिशत थी। मणिपुर में 2007 के चुनावों में एक ही करोड़पति विधानसभा पहुँचा था लेकिन अब 16 करोड़पति विधायक हैं। गोवा में 37 (93 प्रतिशत) नये विधाायक करोड़पति हैं जबकि 2007 के बाद बनी विधानसभा में इनकी संख्या 22 थी।

इन विधानसभाओं में न सिर्फ़ करोड़पतियों का प्रवेश हुआ है बल्कि आपराधिक पृष्ठभूमि वालों की भी यहाँ कोई तंगी नहीं है। मणिपुर को छोड़ बाक़ी सभी राज्यों में इस बार भी बड़े स्तर पर न सिर्फ़ आपराधिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति विधायक बने हैं बल्कि पिछले विधानसभा चुनावों के मुकाबले इस बार इन लोगों ने भी अपनी जमात में ठीक-ठाक इज़ाफ़ा किया है। पाँचों विधानसभाओं में कुल नये चुने गये विधायकों में से 34 प्रतिशत (189) के ख़िलाफ़ भारतीय क़ानूनों के तहत आपराधिक मामले चल रहे हैं। 2007 के चुनावों में इनकी संख्या 190 यानि 27 प्रतिशत थी। पंजाब में 22 विधायकों के ख़िलाफ़ आपराधिक मामले चल रहे हैं।

क्या ये करोड़पति और अपराधी आम जनता की कोई चिन्ता करेंगे। इतिहास इस बात का गवाह है कि पूँजीवादी चुनावों के ज़रिए जरिए सत्ता हासिल करने वाले लोग पूँजीवाद की ही सेवा करते हैं और बदले में अपने लिए मेवा पाते हैं। जनता की ज़िन्दगी में बेहतरी लाने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। वास्तव में पूँजीवादी जनवाद में सरकार की असली परिभाषा कुछ इस तरह होती है – अमीरों की, अमीरों के लिए, अमीरों के द्वारा। इसमें आम जनता का ज़िक्र तो बस ज़ुबानी जमाख़र्च के लिए होता है। आम जनता की तक़लीफ़ों को तो सिर्फ़ मज़दूर वर्ग की एक क्रान्तिकारी सरकार ही दूर कर सकती है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006